सूची

भूमिका

आजकल समानाधिकार का युग है। सिद्धान्त-रूप से समानाधिकार की बात को सभी क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया गया है। संसार के सभी देशों की स्त्रियाँ भी आजकल अपने अधिकारों की समानता के लिए प्रबल आन्दोलन कर रही हैं। बहुत-से देशों में उन्हें समानाधिकार मिल भी गये हैं। उन देशों में स्त्रियाँ अब पुरुषों के समान सभी तरह के काम करती हैं। आज से कुछ ही वर्ष पहले तक स्त्रियों को कोमलांगी समझा जाता था और इस तरह के अनेक कार्य थे, जिनके लिए स्त्रियाँ अनुपयुक्त समझी जाती थीं। उदाहरणार्थ—सैनिक का कार्य, हवाई जहाज और मोटरें चलाने का कार्य। सैनिक कर्तव्य आदि पेशों में न तो कोई स्त्री जाती थी और न उनको इन कार्यों में लिया ही जाता था परन्तु अब वह बात ही नहीं रही। संसार की साहसी स्त्रियाँ अब सभी क्षेत्रों में मर्दों की होड़ करने लगी हैं। यहाँ तक कि वे अब कठिनतम प्रतियोगिताओं में पुरुषों का मुकाबला करने लगी हैं। संसार के अनेक देशों में अब स्त्रियों को भी बाकायदा सैनिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

सम्भवत. इन्हीं सब बातों को देखकर इंगलैंड के सुप्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता तथा विचारक एच० जी० वेल्स ने अपने एक लेख में यह भय

संसार के स्त्री-रत्न

जोन ऑफ़ आर्क

फ्रांस के 'लोरेन' प्रान्त की जंगली पहाड़ियों मे एक छोटा सा ग्राम था। वहाँ जैक्स डार्क नाम का एक किसान रहता था। जोन ऑफ़ आर्क उसकी बीस साल की एक इकलौती बेटी थी। बचपन से वह अकेली ही पली थी। घने जंगलों में, जहाँ मनुष्य का नाममात्र भी दिखाई नहीं पडता था, वह भेड़ें और ढोर चराया करती थी। गाँव के छोटे से सूने और अँधेरे गिरजे में वह झुकी हुई घण्टों तक प्रार्थना में मग्न रहती। एक टिमटिमाता हुआ दीपक उसका साथी होता। उस तन्मयता की दशा में उसे वेदी पर कई प्रकार के छायारूप दिखाई पडते और कई बार उसे ऐसा प्रतीत होता मानो वे उससे बातें कर रहे हैं। उन दिनों ग्रामीण लोग मूढ़ और अंधविश्वासी हुआ करते थे। बहुधा वे लोग स्वप्न में अथवा धुन्ध और वर्षा के दिनों में सूनी पहाड़ियों मे देखे हुए भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनाया करते थे। उन्हें विश्वास हो गया कि भूत-प्रेत ही

जोन ऑफ़ आर्क को दर्शन देते और उससे बातें करते हैं।

एक दिन जोन ऑफ़ आर्क ने अपने पिता से कहा—'मुझे आज अचानक ही एक अलौकिक ज्योति दिखाई पड़ी थी, जिसके पश्चात् एक आकाश-वाणी हुई—'मैं सेंट माईकल तुझे यह आदेश देता हूँ कि जाकर डौफिन की सहायता कर!'

इस घटना के पश्चात् जोन को बार बार यह वाणी सुनाई पड़ती और सदा यही आदेश देती—'जोन! तुझे यह दैवी आज्ञा है कि जा और डौफिन की सहायता कर!' जब भी गिरजे की घण्टी बजती, जोन के कानों में यही आदेश गूँजने लगता।

जोन को वह छायारूप और शब्द सचमुच ही दिखाई और सुनाई पड़ते थे, क्योंकि यह एक प्रकार का रोग है, जिसमें मनुष्य को आकार और शब्दों का मिथ्या आभास होने लगता है। जोन बचपन में ही एक उद्विग्न और चिन्तनशील लड़की थी। [illegible] होने पर भी वह कुछ शान्त थी और चाहती थी कि [illegible] में शान्ति को प्राप्त कर ले।

[illegible] दिन [illegible] लोगों में कुछ अधिक बुद्धिमान था [illegible] जोन को यही कहता—'नहीं, जाने दे। यह केवल तेरी [illegible] है। मैं तेरा विवाह किसी भले पुरुष से कर दूँगा, जिससे [illegible] और ऐसी काल्पनिक बातों में नहीं [illegible]। परन्तु जोन [illegible] यही उत्तर देती—'पिता जी, मैंने [illegible] है कि [illegible] नहीं करूँगी और दैवी आज्ञा के अनुसार डौफिन की सहायता करने के लिए अवश्य जाऊँगी।'

दुर्भाग्यवश जब जोन के मन की अवस्था ऐसी हो रही थी, डौफ़िन के शत्रुओं का एक दल उस ग्राम में आ निकला, जिसने गिरजे को आग लगाकर ग्रामवासियों को ग्राम से बाहर निकाल दिया। उन लोगों के अत्याचारों को देखकर जोन के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और उसका रोग और भी अधिक बढ़ गया। वह कहती—'अब तो वे रूप और शब्द सदा मेरे साथ ही रहते हैं और कहते हैं कि प्राचीन आकाश-वाणी के अनुसार मैं ही फ्राँस की रक्षा करूँगी। मुझे अवश्य डौफ़िन की सहायता के लिए जाना चाहिए और जब तक रीम्स नगर में उसका राज्याभिषेक न हो ले, तब तक मुझे उसके साथ ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिए मुझे एक दूर स्थान पर लॉर्ड बद्रीकोर के पास जाना होगा, जो डौफ़िन से मेरा परिचय करा देगा।'

उसका पिता बहुत समझाता रहा—'जोन बेटी, ये तेरे स्वप्न सब भ्रममूलक ही हैं।' पर वह न टली और अपने चचा के साथ लॉर्ड बद्रीकोर की खोज में चल पड़ी। उसका चचा बहुत निर्धन था। वह ग्राम में बढई का काम किया करता था। पर उसे जोन के स्वप्नों में पूरी श्रद्धा थी। वे दोनों विषम मार्ग की कठिनाइयाँ झेलते हुए चोर, डाकू और उपद्रवियों से बचते बचाते अंत में लॉर्ड बद्रीकोर के ग्राम में जा पहुँचे।

जब लॉर्ड बद्रीकोर के भृत्यों ने अपने स्वामी को बताया कि उसे मिलने के लिए जोन ऑफ़ आर्क नाम की एक कृषक कन्या अपने ग्रामीण चचा को साथ लेकर आई है और कहती है—'मुझे

जोन ऑफ़ आर्क को दर्शन देते और उससे बातें करते हैं।

एक दिन जोन ऑफ़ आर्क ने अपने पिता से कहा—'मुझे आज अचानक ही एक अलौकिक ज्योति दिखाई पड़ी थी, जिसके पश्चात् एक आकाश-वाणी हुई—'मैं सेंट माईकल तुझे यह आदेश देता हूँ कि जाकर डौफिन की सहायता कर !'

इस घटना के पश्चात् जोन को बार बार वह वाणी सुनाई पड़ती और सदैव यही आदेश देती—'जोन ! तुझे यह दैवी आज्ञा है कि जा और डौफिन की सहायता कर !' जब भी गिरजों की घंटी बजती, जोन के कानों में यही आदेश गूँजने लगता।

जोन को वह छायारूप और शब्द सचमुच ही दिखाई और सुनाई पड़ते थे, क्योंकि यह एक प्रकार का रोग है, जिसमें मनुष्य को आकार और शब्दों का मिथ्या आभास होने लगता है। जोन बचपन से ही एक भावुक और चिन्तनशील लड़की थी। [illegible] होने पर भी वह कुछ साहसी थी और चाहती थी कि [illegible] से ख्याति भी प्राप्त कर ले।

जोन का पिता साधारण लोगों से कुछ अधिक बुद्धिमान था और [illegible] उसने जोन को यही कहा—'बेटी, जाने दे। यह केवल तेरी कल्पना है। मैं तेरा विवाह किसी भले पुरुष से कर दूँगा, जिससे [illegible] और ऐसी काल्पनिक उलझनों में नहीं [illegible] जोन [illegible] इस बात का उत्तर देती—'पिता जी, मैंने [illegible] है कि विवाह कभी नहीं करूँगी और दैवी आज्ञा के अनुसार डौफिन की सहायता करने के लिए अवश्य जाऊँगी।'

दुर्भाग्यवश जब जोन के मन की अवस्था ऐसी हो रही थी, डौफिन के शत्रुओं का एक दल उस ग्राम मे आ निकला, जिसने गिरजे को आग लगाकर ग्रामवासियों को ग्राम से बाहर निकाल दिया। उन लोगों के अत्याचारों को देखकर जोन के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और उसका रोग और भी अधिक बढ़ गया। वह कहती—'अब तो वे रूप और शब्द सदा मेरे साथ ही रहते हैं और कहते हैं कि प्राचीन आकाश-वाणी के अनुसार मैं ही फ्राँस की रक्षा करूँगी। मुझे अवश्य डौफ़िन की सहायता के लिए जाना चाहिए और जब तक रीम्स नगर में उसका राज्याभिषेक न हो ले, तब तक मुझे उसके साथ ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिए मुझे एक दूर स्थान पर लॉर्ड बद्रीकोर के पास जाना होगा, जो डौफ़िन से मेरा परिचय करा देगा।'

उसका पिता बहुत समझाता रहा—'जोन बेटी, ये तेरे स्वप्न सब भ्रममूलक ही हैं।' पर वह न टली और अपने चचा के साथ लॉर्ड बद्रीकोर की खोज मे चल पडी। उसका चचा बहुत निर्धन था। वह ग्राम मे बढ़ई का काम किया करता था। पर उसे जोन के स्वप्नों में पूरी श्रद्धा थी। वे दोनों विषम मार्ग की कठिनाइयाँ झेलते हुए चोर, डाकू और उपद्रवियों से बचते बचाते अंत मे लॉर्ड बद्रीकोर के ग्राम में जा पहुँचे।

जब लॉर्ड बद्रीकोर के भृत्यों ने अपने स्वामी को बताया कि उसे मिलने के लिए जोन ऑफ़ आर्क नाम की एक कृषक कन्या अपने ग्रामीण चचा को साथ लेकर आई है और कहती है—'मुझे

जोन ऑफ़ आर्क को दर्शन देते और उससे बातें करते हैं।

एक दिन जोन ऑफ़ आर्क ने अपने पिता से कहा—'मुझे आज अचानक ही एक अलौकिक ज्योति दिखाई पड़ी थी, जिसके पश्चात् एक आकाश-वाणी हुई—'मैं सेंट माईकल तुझे यह आदेश देता हूँ कि जाकर डौफ़िन की सहायता कर!'

इस घटना के पश्चात् जोन को बार बार यह वाणी सुनाई पड़ती और हमेशा यही आदेश देती—'जोन! तुझे यह दैवी आज्ञा है कि जा और डौफ़िन की सहायता कर!' जब भी गिरजे की घण्टी बजती, जोन के कानों में यही आदेश गूँजने लगता।

जोन को वह रूपाकार और शब्द सचमुच ही दिखाई और सुनाई पड़ते थे, क्योंकि यह एक प्रकार का रोग है, जिसमें मनुष्य को आकार और शब्दों का मिथ्या आभास होने लगता है। जोन बचपन से ही एक अस्थिर और चिन्तनशील लड़की थी। [illegible] होने पर भी वह कुछ गर्वित थी और चाहती थी कि [illegible] ख्याति भी प्राप्त कर ले।

[illegible] पिता साधारण लोगों से कुछ अधिक बुद्धिमान था [illegible] कहा—'अरी, जाने दे। यह केवल तेरी [illegible] है। मैं [illegible] किसी भले पुरुष से कर दूँगा, जिससे [illegible] और [illegible] में नहीं [illegible] देती—'पिता जी, मैं [illegible] और [illegible] आज्ञा के अनुसार [illegible] की सहायता करने के लिए अवश्य जाऊँगी।'

दुर्भाग्यवश जब जोन के मन की अवस्था ऐसी हो रही थी, डौफ़िन के शत्रुओं का एक दल उस ग्राम मे आ निकला, जिसने गिरजे को आग लगाकर ग्रामवासियों को ग्राम से बाहर निकाल दिया। उन लोगों के अत्याचारों को देखकर जोन के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और उसका रोग और भी अधिक बढ़ गया। वह कहती—'अब तो वे रूप और शब्द सदा मेरे साथ ही रहते हैं और कहते हैं कि प्राचीन आकाश-वाणी के अनुसार मैं ही फ्रांस की रक्षा करूँगी। मुझे अवश्य डौफिन की सहायता के लिए जाना चाहिए और जब तक रीम्स नगर में उसका राज्याभिषेक न हो ले, तब तक मुझे उसके साथ ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिए मुझे एक दूर स्थान पर लॉर्ड बद्रीकोर के पास जाना होगा, जो डौफ़िन से मेरा परिचय करा देगा।'

उसका पिता बहुत समझाता रहा—'जोन बेटी, ये तेरे स्वप्न सब भ्रममूलक ही हैं।' पर वह न टली और अपने चचा के साथ लॉर्ड बद्रीकोर की खोज में चल पड़ी। उसका चचा बहुत निर्धन था। वह ग्राम में बढ़ई का काम किया करता था। पर उसे जोन के स्वप्नों मे पूरी श्रद्धा थी। वे दोनों विषम मार्ग की कठिनाइयाँ झेलते हुए चोर, डाकू और उपद्रवियों से बचते बचाते अंत में लॉर्ड बद्रीकोर के ग्राम में जा पहुँचे।

जब लॉर्ड बद्रीकोर के भृत्यों ने अपने स्वामी को बताया कि उसे मिलने के लिए जोन ऑफ़ आर्क नाम की एक कृषक कन्या अपने ग्रामीण चचा को साथ लेकर आई है और कहती है—'मुझे

जोन ऑफ़ आर्क को दर्शन देते और उससे बातें करते हैं।

एक दिन जोन ऑफ़ आर्क ने अपने पिता से कहा—'मुझे आज अचानक ही एक अलौकिक ज्योति दिखाई पड़ी थी, जिसके पश्चात् एक आकाश-वाणी हुई—'मैं सेट माईकल तुझे यह आदेश देता हूँ कि जाकर डौफ़िन की सहायता कर !'

इस घटना के पश्चात् जोन को बार बार वह वाणी सुनाई पड़ती और सर्वदा यही आदेश देती—'जोन ! तुझे यह दैवी आज्ञा है कि जा और डौफ़िन की सहायता कर !' जब भी गिरजे की घण्टी बजती, जोन के कानों मे यही आदेश गूँजने लगता।

जोन को वह छायारूप और शब्द सचमुच ही दिखाई और सुनाई पड़ते थे, क्योंकि यह एक प्रकार का रोग है, जिससे मनुष्य को आकार और शब्दों का मिथ्या आभास होने लगता है। जोन आरंभ से ही एक उद्विग्न और चिन्तनशील लड़की थी। स्वभाव की अच्छी होने पर भी वह कुछ गर्वित थी और चाहती थी कि लोगों मे ख्याति भी प्राप्त कर ले।

उसका पिता साधारण लोगों से कुछ अधिक बुद्धिमान् था और सर्वदा जोन को यही कहता—'बेटी, जाने दे। यह केवल तेरी कल्पनामात्र है। मैं तेरा विवाह किसी भले पुरुष से कर दूँगा, जिससे तेरा मन बहल जायगा और ऐसी काल्पनिक उलझनों में नहीं पड़ेगा'। परंतु जोन केवल एक ही उत्तर देती—'पिता जी, मैंने शपथ ले रक्खी है कि विवाह कभी नहीं करूँगी और दैवी आज्ञा के अनुसार डौफ़िन की सहायता करने के लिए अवश्य जाऊँगी।'

दुर्भाग्यवश जब जोन के मन की अवस्था ऐसी हो रही थी, डौफिन के शत्रुओं का एक दल उस ग्राम मे आ निकला, जिसने गिरजे को आग लगाकर ग्रामवासियों को ग्राम से बाहर निकाल दिया। उन लोगों के अत्याचारों को देखकर जोन के हृदय पर गहरा आघात पहुँचा और उसका रोग और भी अधिक बढ़ गया। वह कहती—'अब तो वे रूप और शब्द सदा मेरे साथ ही रहते हैं और कहते हैं कि प्राचीन आकाश-वाणी के अनुसार मैं ही फ्राँस की रक्षा करूँगी। मुझे अवश्य डौफ़िन की सहायता के लिए जाना चाहिए और जब तक रीम्स नगर में उसका राज्याभिषेक न हो ले, तब तक मुझे उसके साथ ही रहना चाहिए। इस कार्य के लिए मुझे एक दूर स्थान पर लॉर्ड बद्रीकोर के पास जाना होगा, जो डौफ़िन से मेरा परिचय करा देगा।'

उसका पिता बहुत समझाता रहा—'जोन बेटी, ये तेरे स्वप्न सब भ्रममूलक ही हैं।' पर वह न टली और अपने चचा के साथ लॉर्ड बद्रीकोर की खोज में चल पड़ी। उसका चचा बहुत निर्धन था। वह ग्राम में बढ़ई का काम किया करता था। पर उसे जोन के स्वप्नों में पूरी श्रद्धा थी। वे दोनों विषम मार्ग की कठिनाइयाँ झेलते हुए चोर, डाकू और उपद्रवियों से बचते बचाते अंत में लॉर्ड बद्रीकोर के ग्राम में जा पहुँचे।

जब लॉर्ड बद्रीकोर के भृत्यों ने अपने स्वामी को बताया कि उसे मिलने के लिए जोन ऑफ़ आर्क नाम की एक कृषक कन्या अपने मामीण चचा को साथ लेकर आई है और कहती है—'मुझे

दैवी आज्ञा मिली है कि डौफ़िन की सहायता करके फ्रांस की रक्षा करूँ' तो वह ठहाका मारकर हँस पड़ा और उन्हें आज्ञा दी कि उस कन्या को कहो—'वह लौट जाय, मैं उससे नहीं मिल सकता।'

पर जब उसने सुना कि वह लडकी ग्राम में इधर-उधर घूमती फिरती है, गिरजाघरों मे उपासना करके देवताओं का साक्षात्कार करती है और किसी को भी हानि नहीं पहुँचाती, तो उसने उसे बुला भेजा और उससे कई प्रकार के प्रश्नोत्तर किये। फिर जब पवित्र जल (holy water) छिडकने के पश्चात् भी जोन ने उसके प्रश्नों का वही उत्तर दिया, जो पहले दिया था तो बद्रीकोर को उस पर विश्वास होने लगा। उसने सोचा कि इसे चिनोन, जहाँ आजकल डौफिन रहता है, भेजने में हानि ही क्या है ? यह सोचकर बद्रीकोर ने जोन को एक घोड़ा, एक खड्ग और पहुँचाने के लिए दो भृत्य साथ दे दिये।

छायारूपों की आज्ञानुसार जोन ने पुरुप का वेप धारण कर लिया और खड्ग को कटि से बाँध घोड़े पर चढ़कर नौकरों के साथ हो ली। उसका चचा अपने गाँव को लौट गया।

चलते चलते वे चिनोन जा पहुँचे, जहाँ जोन को डौफ़िन के सामने लाया गया। राजसभा मे उसने झट डौफिन को पहचान कर उससे कहा—'मुझे दैवी आज्ञा हुई है कि शत्रुओं को परास्त करने में आपकी सहायता करूँ और रीम्स नगर में आपका राज्याभिपेक करवा दूँ'। यह सुनकर डौफ़िन ने बड़े बड़े पादरियों को इकट्ठा कर उनसे पूछा कि देखो यह लड़की दैवी प्रेरणा से

आई है अथवा दानवी। पादरियों ने इस विषय में बहुत बड़ा शास्त्रार्थ और तत्त्वविवेचन आरंभ कर दिया, जिसमे कई विद्वान् तो मीठी नींद सोकर खुर्राटे लेने लगे। अन्त मे एक बूढ़े पादरी ने जोन से पूछा—'तुझे दैव-वाणी किस भाषा मे होती है ?' जोन ने उत्तर दिया—'आपकी भाषा से मधुरतर भाषा मे।' इस पर सभी ने संतोष प्रकट किया और कहा कि जोन को दैवी प्रेरणा ही हुई है, दानवी नहीं। इस अद्भुत घटना को सुनकर डौफ़िन के योद्धाओं में नई शक्ति का संचार हो गया और उनका उत्साह बढ़ गया। परन्तु अंग्रेजी सेना इस वृत्तान्त को सुनकर हतवीर्य और शिथिल हो गई और जोन को चुडैल समझने लगी।

अब जोन एक बार फिर घोड़े पर चढी और ओर्लियन की ओर चल दी। यह दृश्य बड़ा रोमांचकारी था। एक किसान लड़की चमकता हुआ कवच पहने, कटि से झिलमिलाती हुई खड्ग लटकाये, श्वेत घोड़े पर डटी हुई बड़े गर्व से जा रही थी और उसके आगे आगे पदचरों के हाथ मे श्वेत ध्वजा लहरा रही थी, जिसके पट पर ईश्वर की मूर्ति अंकित थी और साथ साथ जीसस और मेरी के नाम भी लिखे हुए थे। इस समारोह के साथ बड़ी भारी सेना के नेतृत्व मे भूखे पौरजनों के लिए अन्नादिक लिये हुए जोन शत्रुओं से घिरे हुए ओर्लियन नगर के पास जा पहुँची।

जब प्राकार पर बैठे हुए ओर्लियन-निवासियों ने उसे देखा तो वे हर्ष से चिल्ला उठे—'देवी आ गई ! आकाशवाणी के अनुसार हमारी रक्षा के लिए देवी आ गई !!'

इस कोलाहल को सुनकर और सेना के अग्रभाग पर उस वीरांगना को लड़ते हुए देखकर अंग्रेज योद्धाओं के छक्के छूट गये और उनके सभी नाके टूट गये। जोन की सेना खाने पीने की सामग्री लेकर नगर में घुस गई और ओर्लियन के लोग बचा लिये गये।

इस विजय के कारण जोन का नाम 'ओर्लियन की देवी' पड़ गया। वह कुछ दिन नगर के अन्दर ठहरी और अंग्रेज सेनापति के नाम पत्र लिखकर प्राकार के ऊपर से गिरवाये। उन पत्रों में जोन ने सेनापति को आदेश दिया था कि दैवी इच्छा के अनुकूल वह अपनी सेना लेकर वहाँ से लौट जाय। पर अंग्रेज सेनापति डटा रहा और उसने जोन को देवदूती मानना स्वीकार न किया। इस पर जोन अपने श्वेत घोड़े पर चढ़कर आगे श्वेत झंडा लहराती हुई लड़ाई के लिए आ पहुँची। उपरोधकों ने अभी तक खाई के पुल और अट्टालिकाओं पर अधिकार जमाया हुआ था। जोन ने आकर यहीं पर आक्रमण किया। चौदह घंटे तक युद्ध होता रहा। जोन अपने हाथ से सीढ़ी लगाकर एक अट्टालिका पर चढ़ रही थी कि गले में शत्रु का बाण लगने से खाई में गिर पड़ी। उसके साथी उसे उठा लाये और गले से बाण निकाल दिया। पीड़ा से विह्वल होकर बेचारी बहुत चिल्लाई, परंतु शीघ्र ही चुप हो गई और कहने लगी—'अब मुझे देववाणी शान्ति और सांत्वना दे रही है'। तत्पश्चात् वह उठकर फिर सेना के आगे जाकर लड़ने लगी। अंग्रेज़ सैनिक, जो उसे मरी हुई समझ

चुके थे, उसे इस प्रकार फिर-से लड़ती हुई देखकर भयभीत हो गये। कई कहने लगे—'फ्रांसीसियों की सहायता मे सेंट माइकल को श्वेत घोड़े पर चढ़कर लड़ते हुए हमने स्वयं देखा है।' अंग्रेज परिणामतः परास्त हुए, पुल छिन गया, अट्टालिकाएँ भी छिन गईं और दूसरे दिन वह अपने मोर्चों को आग लगाकर भाग गये।

परन्तु अंग्रेज़ सेनापति बहुत दूर न भागा और पास ही जार्गो नाम के एक गाँव मे जा छिपा। 'ओर्लियन की देवी' ने उसे वहाँ जाकर घेर लिया और वन्दी बना लिया। जोन जब अपनी श्वेत पताका के साथ प्राकार फाँद रही थी, तब एक पत्थर उसके सिर मे लगा और वह फिर खाई में गिर पड़ी। पर वह खाई में गिरी हुई भी यही चिल्लाती रही—'बढ़ते चलो, मेरे देश-वासियो! आगे बढ़ते चलो!'

इस विजय के पश्चात् अंग्रेज़ों ने बहुत से दुर्ग विना युद्ध किये ही डौफ़िन को लौटा दिये। पेटे (Patay) के स्थान पर जोन ने बची-खुची अंग्रेज़ी सेना को भी खदेड़ दिया और उस भूमि पर, जहाँ बारह सौ अंग्रेज़ सैनिक खेत रहे थे, अपनी विजय-पताका गाड़ दी।

अब उसने डौफ़िन से (जो रणभूमि से सदा दूर ही रहता था) रीम्स नगर में जाने का अनुरोध किया। उसने कहा—'मेरे उद्देश्य का एक अंश तो सफल हो गया है। आपके शत्रु परास्त हो चुके हैं। अब आपको केवल राज-तिलक देना शेष है।' यद्यपि डौफ़िन रीम्स में जाने से डरता था, क्योंकि एक तो रीम्स बहुत दूर

था, दूसरे जिन प्रदेशों से मार्ग जाता था, वहाँ बर्गंडी के ड्यूक और अंग्रेजों का बहुत प्रभाव था। तथापि वह दल हजार सैनिकों के साथ चल पड़ा। 'ओर्लियन की देवी' अपने श्वेत घोड़े पर चमकदार कवच पहने सब से आगे आगे जा रही थी। मार्ग में जहाँ कहीं भी उनके ऊपर आपत्ति आती, सैनिक अधीर हो जाते और जोन पर संदेह करके उसे पागलिनी समझने लगते।

अंत में ओर्लियन की देवी, डौफ़िन और उसके अनुचरों के साथ रीम्स में पहुँच गई। वहाँ जाकर नगर के बड़े गिरजाघर में सारी जनता के संमुख राज-तिलक देकर डौफ़िन को चार्ल्स सप्तम की उपाधि दी गई। उस विजयोत्सव के समय जोन श्वेत पताका लिये राजा के पास ही खड़ी थी। अपने उद्देश्य को सफल हुआ जानकर वह राजा के चरणों में झुककर बोली—'देव! मैंने दैवी आज्ञा का पालन कर दिया है। अब मुझे अपने बाप और चचा के पास लौटने की आज्ञा दीजिए।' परंतु राजा ने उसे जाने न दिया और परिवार-सहित उसका सन्मान करके उसे एक काउंट के तुल्य संपत्ति की अधिकारिणी बना दिया।

क्या ही अच्छा होता, जो ओर्लियन की देवी अपने ग्राम को लौट आती और पुनः ग्रामीण वेष धारण करके उसी छोटे से गिरजे में पूजा किया करती और उन्हीं पहाड़ियों पर ढोर चराया करती! पिछली सारी घटनाओं को भूलकर किसी सज्जन पुरुष से विवाह कर काल्पनिक दैवी वाणी के स्थान पर नन्हे-नन्हे बच्चों का कलरव सुना करती!

परंतु ऐसा होना न बदा था। वह निरंतर राजा की सहायता करती रही, उसके उजड्ड सैनिकों का सुधार करती रही और स्वयं निष्काम भाव से तपस्या का जीवन व्यतीत करती रही। उसने कई वार राजा से विदा माँगी। यहाँ तक कि एक वार अपना चमकीला कवच उतारकर गिरजाघर मे लटका दिया और निश्चय किया कि उसे फिर न पहनूँगी। पर भावी को कौन टाल सका है? राजा के अनुनय-विनय से विवश होकर वह उसे छोड़ न सकी।

जब ब्रेडफ़ोर्ड के ड्यूक ने वर्गंडी के ड्यूक से संधि करके इंग्लैंड के पक्ष मे लड़ना आरंभ कर दिया और चार्ल्स सप्तम का नाक मे दम कर दिया, तो चार्ल्स कभी कभी जोन से पूछ बैठता— 'अब दैवी वाणी तुम्हे इस विषय मे क्या कहती है?' परंतु जोन कभी कुछ और कभी कुछ सुनती थी। परस्परविरोधी और संकीर्ण प्रलाप सुनने के कारण जोन पर से राजा का विश्वास उठता गया। कुछ समय के पश्चात् चार्ल्स ने पेरिस की ओर प्रयाण किया और सेंट ओनोर (St Honore) के आसपास के स्थानों पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध मे आहत होकर 'देवी' एक वार फिर खाई में गिर पड़ी। परंतु इस संकट मे सारी की सारी सेना ने ही उसका परित्याग कर दिया। वेचारी लोथों के ढेर में निःसहाय पड़ी थी। जैसे-कैसे निकलकर उसने अपनी जान बचाई। पर अंत मे वर्गंडी के ड्यूक ने जब केम्पेन (Campiegne) को घेर रक्खा था, वह वीरता से सब से आगे लड़ती हुई पकड़ी गई। सारी सेना भाग गई और उस अकेली को पीछे छोड़ गई।

इस क्षुद्र-सी एक किसान लड़की के पकड़े जाने पर जो कोलाहल मचा, जो ईश्वर का धन्यवाद गान किया गया, उसके क्या कहने! कोई कहता—'यह चुड़ैल है, इसे इन्क्विजिटर जनरल के जनरल से दण्ड दिलाना चाहिए।' दूसरा कहता—'यह जादूगरनी है, यह नास्तिक है, इसे अमुक राज्याधिकारी के सामने ले जाना चाहिए।' किंबहुना, जितने मुँह उतनी ही बातें सुन-सुनकर कलेजा काँपता था। अन्त में दस हज़ार फ्राँक शुल्क देकर बोवे के बिशप (Bishop of Beauvais) ने उसे मोल ले लिया और एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिया। अब उसे 'देवी' कौन कहता! वही जोन ऑफ़ आर्क अब एक दीन-हीन दुखिया लड़की थी!

जो जो अत्याचार जोन पर किये गये, उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय। बड़े बड़े पंडितों और विद्वानों ने अपनी सारी प्रतिभा उसके निरीक्षण, परीक्षण और पर्यवेक्षण में ही लगा दी और न जाने उस बेचारी से क्या क्या कहलवा लिया। सोलह बार उसे कालकोठरी से बाहर लाया गया और सोलह बार ही फिर बन्द कर दिया गया। वाद-विवाद, यातना, प्रतारणा आदि से वह इतनी ऊब गई कि जीवन भी दूभर हो गया। अन्त में उसे गले में सूली बाँधकर दण्डपाशिक के साथ रुएँ (Rouen) की श्मशानभूमि में लाया गया। वहाँ एक ऊँची वेदी पर चढ़कर एक पादरी ने बड़ा भीषण व्याख्यान दिया। परन्तु उस घोर संकट के समय में भी लोगों की गालियाँ सहती हुई वह अपने राजा से विमुख न हुई। उस विश्वास-घातक पातकी नरकीट के पक्ष का उसने बड़ी

रता से समर्थन किया।

युवावस्था मे भला, जीवन किसको प्रिय नहीं होता ? तकी ओर से एक घोषणा लिखी गई कि 'अब तक जो ी अद्भुत मैं देखती सुनती रही हूँ, वह सब दानवी प्रेरणा के ारण था।' वह पढी-लिखी तो थी नहीं। अपनी प्राण-रक्षा के तए उसने उस घोषणा पर स्वस्तिका-चिह्न के रूप मे हस्ताक्षर र दिये। तत्पश्चात् घोषणा इन्कारी पर और पुरुषवेष धारण रने के लिए हठ करने पर उसे आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया। वन्दीगृह मे उसके लिए था खाने को शोक और पीने को हृदय का रुधिर !

इस कृच्छ्र अवस्था में उसे फिर वही छायारूप और शब्द दिखाई और सुनाई देने लगे। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि वह रोग उपवास, चिन्ता और एकान्त-वास से बढ़ जाता है। जोन को फँसाने के लिए फिर उससे बलात् कहलवाया गया कि उसे देव-वाणी होती है। उसकी कोठरी मे पुरुष के वस्त्र छिपाकर रख दिये गये, जिनको बेचारी ने मनोविनोद के लिए अथवा दैवी आज्ञा के अनुसार पहन लिया। बस फिर क्या था, इस अपराध के लिए उसे जीते जी जलाये जाने का दण्ड दिया गया।

बड़े विकराल वेष में उसे रुएँ (Rouen) की हाट के चौक में लाया गया। कौतुक देखने के लिए चारों ओर आलिन्दों पर पादरी लोग बैठे थे। उनमे से कइयों को इस भयानक दृश्य के देखने का साहस न हुआ और वे उठकर चले गये। अन्त में अंजलि

में स्वस्तिका (क्रास) लिये, क्राइस्ट की दुहाई देती हुई बेचारी निःसहाय किसान कन्या चिल्लाती हुई जलकर राख हो गई।

रुएँ नगर आज तक विद्यमान है। उसमें प्राचीन गौरव के चिह्न अभी तक शेष हैं। जब सूर्य भगवान् उदय होते हैं तो गिरजाघरों के कलश स्वर्णसमान चमक उठते हैं। उस नगर के एक चौक में जोन ऑफ़ आर्क की अन्तिम वेदना की एक प्रतिमा खड़ी है। आजकल उस चौक का नाम भी जोन ऑफ़ आर्क का चौक पड़ गया है।

हेरिएट टबमैन

जिन दिनों अमेरिका की दक्षिणी रियासतों में 'दासता' का प्रचार ज़ोरों पर था, वहाँ हेरिएट टबमैन नाम की एक हब्शिन रहती थी। उन दिनों दासों पर बड़े बड़े अत्याचार किये जाते थे। बेचारी स्त्रियों का तो कहना ही क्या। उनसे सारा सारा दिन पशुओं से भी बढ़कर काम लिया जाता था। ऐसी घोर परिस्थिति में यही एक वीरांगना हुई है, जिसने अपनी जाति की रक्षा के लिए हज़रत मूसा से कम काम नहीं किया। इसकी कहानी बड़ी रोमांचकारी और वीररसपूर्ण है।

हेरिएट टबमैन अभी तेरह ही वर्ष की थी कि इसने बड़ी वीरता दिखाई। एक ओवरसियर किसी हब्शी दास पर क्रुद्ध हो गया। उसने लोहे का एक बट्टा उठाकर हब्शी के दे मारा। हेरिएट झट भागकर बीच में आ गई। बट्टा बेचारी के सिर में लगा, और इस चोट का असर आयु भर उसके ऊपर रहा।

उसे पीड़ा उठा करती और मूर्च्छा आ जाया करती थी। इस घटना में उसके भावी आत्मत्याग के जीवन की एक झलक दिखाई पड़ती थी।

हेरिएट का सारा यौवन दासता का क्लेश सहने में ही व्यतीत हुआ। दिन रात जितना संभव था, उससे काम लिया जाता था। न खेल, न कूद और न ही विद्याध्ययन के लिए छुट्टी। पूरी नींद भी तो लेनी नसीब नहीं होती थी। न केवल झाड़ू बुहारू आदि स्त्रियों का ही काम वह करती थी, वरन् मनुष्यों की भाँति हल भी चलाती, बोझा भी ढोती, लकड़ी भी काटती और बड़े बड़े लट्ठों को भी घसीटकर ले जाती। इतना कष्ट-भरा जीवन व्यतीत करते हुए भी उसने सोचा—'शायद विवाह कर लेने से कुछ सुख मिले।' परन्तु यह उसका भ्रम था। विवाह के पश्चात् उसके पति ने उसकी परवा करनी छोड़ दी। अब बेचारी के लिए जीवन दूभर हो गया। वह वहाँ से भागकर उत्तरीय रियासतों में फिलेडेल्फिया को चली गई। वहाँ दासता की घोर घटाएँ इतनी प्रबल नहीं थीं। वहाँ वह स्वतन्त्र और सुरक्षित थी। बेचारी ने कहीं नौकरी कर ली और कुछ पैसा भी बचाने लगी। पर उसके विचार दक्षिण में अपने सजातीयों की ओर लगे हुए थे, जिनका जीवन सर्वथा उनके स्वामियों के अधीन था। वह अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके संतुष्ट न रह सकी। दूसरों के दुःख से व्याकुल हो उठी और अन्त में अपने आपको संकट में डाल दूसरों को मुक्ति दिलाने के लिए दक्षिण लौट आई।

महात्मा मूसा तो दासों की एक बड़ी सेना को एक ही वार मिश्र देश से निकाल लाये थे। पर इस वीरांगना ने उन्नीस वार अफ्रीका से लाये हुए हब्शी दासों के समूहो को दासता से निकालकर स्वतन्त्र रियासतों मे पहुँचाया। वे रात के समय जंगलों और दलदलो में यात्रा करते। एक ओर श्वापदों का भय, दूसरी ओर शिकारी कुत्तों को लिये हुए उनके स्वामी उनका पीछा करते। दोनों ओर मृत्यु सिर पर खड़ी थी। दूध-पीते बच्चों को अफ़ीम देकर सुला दिया जाता। बालकों को किसी न किसी प्रकार साथ घसीटा जाता। पर हेरिएट ने एक वार भी अपने किसी मनुष्य को नहीं खोया। वह अपने गुप्त मार्ग को 'रसातल की रेल-पटड़ी' कहा करती थी। कितना कार्यभार, कितना आत्म-विश्वास और उसका कितना साहस था!

सन् १८५० मे भगोड़े दासों का कानून (Fugitive Slaves Act) पास हुआ, जिसके अनुसार भागे हुए दासों को पकड़कर उनके पूर्व-स्वामियों के पास ही भेज दिया जाता था। तो यह वेचारी अपने साथियों की रक्षा करने के लिए उन्हे दूर केनेडा तक ले गई।

उसके समकालीन अनेक अमेरिकन महापुरुष उसका बहुत आदर करते थे। उसके मित्रों मे से एक तो प्रसिद्ध लेखक इमर्सन (Emerson) था। दूसरा था जोन ब्राउन (John Brown) जिसे हार्पर्ज फ़ेरी (Harper's Ferry) में हब्शी-विद्रोह का नायक होने के अपराध मे फांसी दी गई थी। तीसरा विलियम लायड गेरिसन (William Lloyd Garrison) था। इस वेचारे को

दासता के विरुद्ध प्रचार करने के कारण बोस्टन (Boston) क
गलियों में से घसीटा गया और जनता के कोप से बड़ी मुश्किल
इसकी जान बची। ऐसी अवस्था में आप अनुमान लगा सकते हैं
कि हेरिएट टवमैन की भी क्या दुर्दशा होती, यदि विलिमटन
स्टेशन पर गार्ड गाड़ियों की पड़ताल कर लेता, जब कि वह
मालगाड़ी में छिपी हुई भागी जा रही थी।

जब अमेरिका में गृह-युद्ध आरंभ हुआ तो हेरिएट उत्तर के
सैनिकों की सेवा-शुश्रूषा करने और उनका खाना पकाने के लिए
उनसे जा मिली। उस वीरांगना के जीवनकाल में ही सारे
यूनाइटिड स्टेट्स में से दासता को सर्वथा नष्ट कर दिया गया और
हब्शियों को वोट (मत) देने का अधिकार भी मिल गया। वह शुभ
दिवस उसके जीवन में एक चिर-स्मरणीय विजय-दिवस था।

अपने उद्देश्य में सफल होकर हेरिएट ने औबर्न (Aub
में एक छोटे से विश्रामगृह (House of Rest) की स्थापना
वहाँ वह अपने बूढ़े सजातीयों के साथ रहने लगी। परिश्रम,
और भय का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् उसे वहाँ ही थोड़
शान्ति मिली।

फ़्लोरेंस नाइटिंगेल

फ़्लोरेंस नाइटिंगेल का जन्म १२ मई, १८२० को आर्नो नदी के किनारे फ़्लोरेंस नगर में हुआ था। उसका पिता विलियम नाइटिंगेल एक बड़ा समृद्ध जमींदार था। वह बड़ा सच्चरित्र और विद्वान् पुरुष था। ग्राम मे अपनी असामियों के अंदर विद्या-प्रचार के लिए धन व्यय करने में वह ज़रा भी संकोच नहीं करता था। फ़्लोरेंस की माता विलियम स्मिथ की लड़की थी, जो नौर्विच प्रान्त की ओर से पचास वर्ष तक पार्लियामेंट का सदस्य रहा। वह दास-प्रथा का कट्टर विरोधी था और परोपकार के कामों में बहुत उत्साह प्रकट करता था। फ़्लोरेंस की माता ने भी परोपकार, दया और उदारता आदि गुण अपने पिता से प्राप्त किये थे। माता पिता दोनों के ही कुलीन और महानुभाव होने के कारण फ़्लोरेंस के अन्दर भी परोपकारशीलता और विद्या-प्रेम आदि का बीजारोपण हो गया।

बचपन के खिलवाड़ में ही उसकी भावी वृत्ति की झलक दिखाई देती थी। उसकी गुड़ियाँ बहुधा रोग-ग्रस्त हो जातीं और वह उनके सिरहाने बैठी उनकी उपचर्या करती रहती। उनके कपड़े बदलती, उन्हें खिलाती, पिलाती और थपक कर सुलाती इस प्रकार उनके काल्पनिक रोगों को काल्पनिक सेवा-शुश्रूषा से ही दूर कर देती। जब कभी उनके हाथ-पाँव टूट जाते तो भली भाँति जोड़कर ऊपर से पट्टी बाँध दिया करती।

वह कोई दस वर्ष की होगी, जब उसे सचमुच एक सजीव रोगी की उपचर्या करने का अवसर मिला। हेम्पशायर की घाटी में जब वह एक दिन अपने पादरी के साथ घोड़े पर चढ़ी हुई जा रही थी, तब उसने देखा कि बहुत-सी भेड़ें पहाड़ी पर इधर-उधर भाग रही हैं। बूढ़ा गडरिया बेचारा डंडा लिये उन्हें बहुतेरा हाँककर इकट्ठा करने का प्रयत्न करता है पर वे वश में नहीं आतीं। अन्त में हारकर वह एक जगह घास पर बैठ गया। उसको कष्ट में देखकर फ्लोरेंस और पादरी उसके पास जा पहुँचे और पादरी ने अपना घोडा रोककर कहा—'क्यों भई रोजर, क्या बात है? तेरा कुत्ता कहाँ है?'

बूढ़े ने कहा—'दुष्ट लडकों ने पत्थर मार-मारकर उसकी टाँग तोड दी है। अब वह किसी काम का नहीं रहा। इसी से मैं इस विपत्ति में पड़ गया हूँ। कुत्ते का भी बुरा हाल है। मैं उसका दुःख देख नहीं सकता।'

'हैं! कुत्ते की टाँग टूट गई?' लड़की ने घबराकर पूछा,

'रौजर, क्या हम कुछ नहीं कर सकते ? उसको दु:ख मे इस तरह त्याग देना तो महापाप है। वह है कहां ?'

'बेटी, तुम क्या कर सकती हो ? वह तो अब किसी योग्य नहीं रहा। आज रात ही मैं उसे फाँसी लगाकर उसके दुःख को सदा के लिए शान्त कर दूँगा। वह सामने एक झोंपडी के भीतर पड़ा है।'

'तो क्या हम बेचारे की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते ?' फ्लोरेस ने पादरी की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखकर पूछा। बालिका के मुख पर करुणा की मुद्रा देखकर पादरी का हृदय पिघल गया और उसने अपने घोड़े का मुख सामने की झोंपड़ियों की ओर कर दिया। फ़्लोरेंस अपने घोड़े को दौड़ाकर पादरी से पहले ही उस झोंपडी के पास जा पहुँची, जहाँ वह घायल कुत्ता पड़ा था। उसने उतरकर कुत्ते को थपकी दी और पुचकारा। जब बेचारे मूक जानवर को प्यार और दिलासा मिला तो उसने अपनी भूरी आँखें खोलकर धन्यवाद प्रकट किया। इतने मे पादरी भी आ पहुँचा। पादरी से पूछकर फ़्लोरेंस ने पानी गरम करके कुत्ते के घाव को धोकर उसकी टकोर की। टकोर से सूजन और पीड़ा कम हो गई।

पर फ़्लोरेंस अपने काम को पूर्ण कुशलता से करना चाहती थी। उसने अपने घर किसी के हाथ सँदेसा भेज दिया, ताकि माता पिता चिन्ता न करें और स्वयं कई घंटों तक बैठी कुत्ते की लँगड़ी टाँग को भाप का सेक देती रही।

सायंकाल को जब बूढ़ा रौजर हाथ में फाँसी की रस्सी लिए हुए आय, तो कुत्ता गुर्राया और उठकर उसकी ओर बढ़ने लगा।

यह देखकर रौजर बोल उठा—'बेटी ! तुम ने तो चमत्कार कर दिखाया ! मैं तो इसकी ओर से निराश हो चुका था, और इसे फाँसी लगाने आया था।'

'नहीं, अब यदि तुम इसकी देख-भाल करते रहोगे तो बच जायगा। मैं कल फिर आऊँगी।' इतना कहकर बूढ़े को उपचारविधि समझाकर वह वहाँ से चली आई।

इस प्रकार वह प्राणिमात्र का कुछ न कुछ भला करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहती। उसके पिता की सारी असामियाँ उससे प्रेम करने लगीं। जब कभी उनके यहाँ कोई रोगी हो जाता, फ्लोरेंस के कान तक समाचार पहुँचा देते।

फ्लोरेंस को पशुओं से बहुत प्रेम था और उसने कई पाल रक्खे थे। उनमें से एक बूढ़ा टट्टू भी था, जिसे वह प्रति कुछ न कुछ खाने को दे आती। खेतों में सब जीव-जन्तु उससे करने लगे। वह दाने बिखेरती जाती और गिलहरियाँ उसके पीछे दौड़तीं। उनकी क्रीड़ा और चपलता को देख-देखकर बहुत ही प्रसन्न होती। पशुओं की भाँति उसे फूलों से भी प्रेम था।

पड़ोस में जहाँ कहीं भी वह जाती, सभी उसका प्रेम स्वागत करते। बीमारी और कष्ट में तो वह 'शान्ति की देवी' स

जाती। जब कभी वह अपनी माता की ओर से दान करने को निकलती, तो भूखे नंगों के लिए अन्न और वस्त्र ले जाती। भिखारियों को भिक्षा लेने मे इतना आनन्द न होता, जितना कि उसकी मधुर आकृति और मुख पर सहानुभूति की मुद्रा देखकर होता था। उस नन्ही अवस्था मे ही वह साक्षात् देवी की मूर्त्ति दिखाई पडती थी। दूसरों के दुःख और क्लेश को देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता था, उसकी आत्मा काँप उठती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह अपने जीवन के उद्देश्य को अपने साथ लेकर जन्मी हो। दूसरों का भार हलका करना, उनका दुख-दर्द बाँट लेना ही उसका सहज स्वभाव था।

फ़्लोरेंस न केवल अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य के भीतर ही पली थी, वरन् उसे उस समय की प्रथा की अपेक्षा कहीं बढ़कर उच्च शिक्षा दी गई थी। उसका पिता एक बड़ा शिक्षित, उदात्त और शालीन व्यक्ति था। उसने फ़्लोरेंस को ग्रीक, लेटिन, गणित और विज्ञान के मूल सिद्धान्तों मे स्वयं शिक्षा दी। उच्च कोटि के लेखकों और कवियों की कृतियों से उसका अच्छा परिचय करा दिया। घर मे उसका नियंत्रण बहुत कठोर था। उसने पढने-लिखने और खेलने-कूदने के नियम बना रक्खे थे। उन नियमों का उल्लंघन करने से अवश्यमेव दण्ड मिलता था। इसलिए बचपन से ही फ़्लोरेंस को कड़ी साधना मे से गुज़रना पड़ा, जिससे वह प्रत्येक कार्य को क्रम और विधिपूर्वक करना सीख गई।

फ़्लोरेंस को सीने-पिरोने का भी बड़ा चाव था। वह गद्दे,

सायंकाल को जब वृढ़ा रौजर हाथ में फाँसी की रस्सी लिं हुए आय. तो कुत्ता गुर्राया और उठकर उसकी ओर बढ़ने लगा।

यह देखकर रौजर बोल उठा—'बेटी! तुम ने तो चमत्कर कर दिखाया! मैं तो इसकी ओर से निराश हो चुका था, और इं फाँसी लगाने आया था।'

'नहीं, अब यदि तुम इसकी देख-भाल करते रहोगे तो ट बच जायगा। मैं कल फिर आऊँगी।' इतना कहकर बूढ़े हो उपचारविधि समझाकर वह वहाँ से चली आई।

-इस प्रकार वह प्राणिमात्र का कुछ न कुछ भला करने के लि सर्वदा उत्सुक रहती। उसके पिता की सारी असामियाँ उससे प्रे करने लगीं। जब कभी उनके यहाँ कोई रोगी हो जाता, झट फ़्लोरेंस के कान तक समाचार पहुँचा देते।

फ्लोरेंस को पशुओं से बहुत प्रेम था और उसने कई प पाल रक्खे थे। उनमें से एक बूढ़ा टट्टू भी था, जिसे वह प्रति दि कुछ न कुछ खाने को दे आती। खेतों में सब जीव-जन्तु उससे प्र करने लगे। वह दाने बिखेरती जाती और गिलहरियाँ उसके पीछे दौड़तीं। उनकी क्रीड़ा और चपलता को देख-देखकर वहुत ही प्रसन्न होती। पशुओं की भाँति उसे फूलों से भी ब प्रेम था।

पड़ोस में जहाँ कहीं भी वह जाती, सभी उसका प्रेम स्वागत करते। बीमारी और कष्ट में तो वह 'शान्ति की देवी' स

। जब कभी वह अपनी माता की ओर से दान करने को जाती, तो भूखे नंगों के लिए अन्न और वस्त्र ले जाती। भिखारियों को भिक्षा लेने में इतना आनन्द न होता, जितना कि उसकी मधुर आकृति और मुख पर सहानुभूति की मुद्रा देखकर होता था। उस नन्ही अवस्था में ही वह साक्षात् देवी की मूर्त्ति दिखाई पड़ती थी। दूसरों के दुःख और क्लेश को देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता था, उसकी आत्मा काँप उठती थी। ऐसा अतीत होता था, मानो वह अपने जीवन के उद्देश्य को अपने साथ लेकर आयी हो। दूसरों का भार हलका करना, उनका दुख-दर्द बाँट लेना उसका सहज स्वभाव था।

फ़्लोरेंस न केवल अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य के भीतर ही पली वरन् उसे उस समय की प्रथा की अपेक्षा कहीं बढ़कर उच्च शिक्षा दी गई थी। उसका पिता एक बड़ा शिक्षित, उदात्त और शालीन व्यक्ति था। उसने फ़्लोरेंस को ग्रीक, लेटिन, गणित और विज्ञान के मूल सिद्धान्तों में स्वयं शिक्षा दी। उच्च कोटि के लेखकों और कवियों की कृतियों से उसका अच्छा परिचय करा दिया। घर में उसका नियन्त्रण बहुत कठोर था। उसने पढ़ने-लिखने और खेलने-कूदने के नियम बना रक्खे थे। उन नियमों का उल्लंघन करने से अवश्यमेव दण्ड मिलता था। इसलिए बचपन से ही फ़्लोरेंस को कड़ी ही साधना में से गुज़रना पड़ा, जिससे वह प्रत्येक कार्य को क्रम और विधिपूर्वक करना सीख गई।

फ़्लोरेंस को सीने-पिरोने का भी बड़ा चाव था। वह गई,

मोजे आदि बुन लेती और चादरों, दुपट्टों और अन्यान्य वस्त्रों पर बड़ा सूक्ष्म कसीदे का काम कर लिया करती थी। झालरें बनाना, किनारे लगाना, भाँति भाँति के बेल-बूटे और चित्र निकालना इन सब में वह इतनी चतुर थी कि लोग देखकर दंग रह जाते थे। साथ ही साथ माता ने उसे बोलने, चलने, उठने, बैठने और शिष्टाचार के सभी नियमों की भी शिक्षा दे दी थी। तात्पर्य यह कि छोटी ही अवस्था मे वह एक बड़ी निपुण और सुघड़ लड़की बन गई थी।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, फ़्लोरेंस के मन में व्याकुलता उत्पन्न होने लगी। वह सोचने लगी—'क्या इस सुख के जीवन के अतिरिक्त संसार में कोई महत्त्व का काम नहीं है? क्या जीवन का उद्देश्य यही है कि खा पी कर सुख में पड़े रहे? संसार में कितना दु:ख, कितना कष्ट, कितनी वेदना और कितनी व्यथा है! क्या मैं इसे दूर करने के लिए कुछ भी नहीं कर सकती?' ये प्रश्न थे, जो उसे व्याकुल कर रहे थे। अंत में उसने अपने कार्यक्षेत्र का निश्चय कर लिया—वह था हस्पताल में नर्स का काम।

एक दिन जब फ़्लोरेंस ने सालिसबरी हस्पताल में जाकर कुछ मास तक नर्स का काम करने की प्रबल इच्छा प्रकट की तो यह सुनकर उसकी माँ चौंक उठी। इतना अनर्थ! इतना मर्यादा-भंग! जमींदार की बेटी और ऐसा निकृष्ट काम करे! घोर विरोध करके उसे रोक दिया गया। उन दिनों में नर्सरी का व्यवसाय कलंकित समझा जाता था। नर्सें प्रायः गन्दी, अनपढ़, मूर्ख और क्रूर हुआ करती थीं। वे मद्य पीतीं और अनेकों अनाचार किया करती थीं।

दुराचार के लिए तो वे विशेष कर बदनाम थीं । इसलिए चिकित्सा आदि का छोटे से छोटा कार्य भी उनके भरोसे नहीं छोडा जा सकता था। आजकल तो युग ही पलट गया है। उस समय से आज तक पृथिवी-आकाश का अन्तर हो गया है । इस परिवर्तन का प्रधान कारण थी, सुधारकों की शिरोमणि फ्लोरेंस नाइटिंगेल।

अपनी इस इच्छा के विरोध के आठ साल पीछे तक वह घोर परिश्रम करती और उपाय सोचती रही। न समाज की रंग-रलियाँ उसे भाती थीं, न विवाह की बात ही उसे अच्छी लगती थी । वह लुक-छिपकर वैद्य-परिषदों की रिपोर्टें, स्वास्थ्य-विभागों की पुस्तके और हस्पतालो तथा आश्रमो के इतिहास पढ़ा करती। जब अवकाश के दिनों मे वह लंडन जाती तो वहाँ गरीबों के विद्यालयों और कर्मशालाओं मे जाकर काम करती। यूरोप के सब बड़े बड़े हस्पतालों से वह परिचित थी और सभी बडे बड़े नगरों की गन्दी गलियो मे चक्कर काट चुकी थी । उसने कुछ दिन रोम के एक कौन्वेंट स्कूल मे और कुछ सप्ताह पैरिस मे भिक्षुणी (सिस्टर ऑफ मर्सी) बनकर भी व्यतीत किये थे। सन् १८४६ मे कार्ल्सबाद मे एक दिन वह अपनी माँ और बहन के पास से भागकर कैसरवर्थ में डीकोनेसिस् संस्था मे चली गई। यह संस्था प्रसिद्ध दानवीर और परोपकारी सज्जन श्रीयुत पैस्टर फ्लीड्नर ने स्थापन की थी और यह पहली ही संस्था थी, जिसमे स्त्रियों को रोगियों की सेवा करने के लिए नर्स बनने की शिक्षा दी जाती थी । यह भी एक संयोग की बात थी कि संसार की भावी नर्स-शिरोमणि ने वहाँ जाकर शिक्षा

प्राप्त की। इस स्थान पर उसके भावी कार्य-क्षेत्र की नींव पड़ गई। उसने कैसरवर्थ की इस संस्था के संबंध में एक पुस्तक लिखी, जिसकी आय उसने दान में ही लगा दी।

फ्लोरेंस नाइटिंगेल स्त्रियों को सर्वदा इस बात का उपदेश देती कि किसी भी काम के लिए शिक्षा का होना अत्यावश्यक है। शिक्षा के बिना कोई भी काम सफल नहीं हो सकता और न ही उसमे कभी दैव सहायक होता है।

तीन वर्ष और व्यतीत हो गये। अन्त में माता-पिता ने समझ लिया—लड़की सयानी हो गई है, अपनी रक्षा स्वयं कर सकती है, इसलिए अब उसके मार्ग मे बाधा डालना उचित नहीं।

अन्त में फ्लोरेंस हार्लेस्ट्रीट मे एक आतुरालय की अध्यक्षा बन गई और उसने अपने निरंतर परिश्रम और उत्साह से उसे एक आदर्श संस्था बना दिया। एक युवती, जो उस संस्था को देख आई थी, कहती है—'हस्पताल के सभी कामों मे वही दिखाई देती थी। क्या नर्सों का शासन, क्या चिट्ठी-पत्री, क्या औषध-निर्देश और क्या हिसाब-किताब; सभी काम वह स्वयं ही देखती भालती और साथ ही संस्था को धन की सहायता भी देती।'

अब एक ऐसा अवसर आया, जिससे उसके भाग्य का उदय हो गया। क्रीमियाँ का युद्ध छिड़ गया। सारी जाति की आँखें उधर लग गईं। योद्धाओं को युद्ध के लिए आह्वान करके प्रोत्साहित किया गया—'वीरो, उठो! शत्रु चाहे कितना ही प्रबल औ

शूरवीर क्यों न हो, यदि तुम अपनी बन्दूक और तलवार लेकर डट जाओगे तो विजय तुम्हारी ही है !'

जब ऐल्मा से विजय का समाचार आया तो साथ ही यह भी सूचना मिली कि रणभूमि मे घायलों की कोई परवा नहीं करता, रोगियों की कोई बात नहीं पूछता और मरते हुओं को ढाढस बँधाने वाला भी कोई नहीं। इधर सारी जाति विजयोत्सव मना रही थी, उधर सैनिकों मे असन्तोष फैल रहा था। आने जाने के मार्ग सब टूट चुके थे। लड़ने के साथ ही साथ सैनिकों को पशुओं की भाँति भार उठाकर जाड़े के दिनों में चौदह चौदह मील कीचड़ में पैदल चलकर अपने और अपने साथियों के लिए खाना दाना और गर्म कंबल लाने पड़ते थे। प्रसिद्ध रण-संवाददाता विलियम हौवर्ड रसल ने लिखा—'हस्पताल की साधारण से साधारण सामग्री भी नहीं मिलती। सफ़ाई का कोई प्रबन्ध नहीं। दुर्गन्ध से दिमाग़ फटा जाता है। मनुष्य मक्खियों की तरह मर रहे हैं और उन्हे बचाने वाला कोई नहीं। क्या हमारे देश मे आत्मबलिदान करने वाली ऐसी स्त्रियाँ नहीं रहीं, जो जायँ और स्कूतरी के हस्पतालों में हमारे पूर्वीय योद्धाओं को दुःख मे सान्त्वना दें और रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करें ? क्या इंग्लैंड की देवियों में इतनी शक्ति भी नहीं रही, जो इस संकट के समय में पुण्य का काम कर सकें ?'

उस समय सिड्नी हर्बर्ट युद्ध-मन्त्री था। वह अपनी शासन-शक्ति और कर्तव्य-निष्ठा के लिए तो विख्यात था ही, पर सब से बढ़कर था उसका चरित्र, जिसके कारण उसके वाक्यमात्र पर सभी

लोग अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार हो जाते थे। सारी जाति की दृष्टि अब उसी की ओर ही लगी हुई थी।

इस पुकार को सुनकर युद्ध-मन्त्री के पास सभी जातियों की स्त्रियों के प्रार्थनापत्र आने लगे। ज्यों ज्यों स्त्रियाँ सैनिकों की व्यथा की कहानियाँ सुनतीं, धड़ाधड़ नर्सों का काम करने के लिए अपने आपको समर्पण करती जातीं। पर हर्बर्ट ने देखा कि उनमें से किसी मे भी कार्यभार उठाने की योग्यता नहीं। एक भी ऐसी नहीं, जो सब के ऊपर शासन करती हुई सारे काम को सुव्यवस्थित रूप से चला सके। परन्तु एक व्यक्ति को वह जानता था, जो इस काम के लिए पूरी योग्यता रखती थी। वह थी फ़्लोरेंस नाइटिंगेल। पर बिना उसके अपनी इच्छा प्रकट किये ही वह उससे कैसे कहे कि मान-मर्यादा को तिलांजलि देकर, जान पर खेलकर वह इस अग्नि मे कूद पड़े ?

इधर फ्लोरेंस ने अपने ग्राम मे होवर्ड रसल के हृदय-वेधक शब्दों पर विचार किया। कई वर्षों से वह ऐसे ही अवसर की प्रतीक्षा में थी। अब वह स्वतन्त्र थी, सुशिक्षित थी, निपुण थी और प्रौढ़ भी हो गई थी। उसके मन मे सेवा का भाव भी प्रबल था और शरीर मे शासन करने की शक्ति भी। उसने निश्चय कर लिया और दिन निकलने से पहले पहले, १५ अक्टोबर को, युद्ध-मंत्री सिडनी हर्बर्ट के नाम पत्र लिख दिया—'मैं तन मन धन से देश-सेवा करने को तैयार हूँ।' उसी दिन हर्बर्ट महोदय ने भी बड़ी उधेड़-बुन के पश्चात् स्वयं ही उसे सैनिकों की सेवा करने वाली नर्सों के समुदाय

ी नेत्री बनने के लिए एक लंबा चौड़ा पत्र लिखा और डाक मे
। दोनों पत्र एक दूसरे को लाँघ गये।

एक सप्ताह के अन्दर ही अन्दर वह ३८ नर्सों के पहले दल
के साथ जाने को तैयार हो गई। दिखावे से बचने के लिए वह
२१ अक्टोबर १८८४ को रात्रि के समय नर्सों को साथ लेकर
चल दी।

वे लोग ४ नवंबर १८८४ को, वालक्लावा के युद्ध के दस दिन
पीछे और इंकरमेन के युद्ध से केवल एक दिन पहले स्कूतरी पहुँचे।
जब 'नर्सों की रानी' ने रोगियों और घायलों के आश्रमों का चक्कर
लगाया तो वह काँप उठी। चारों ओर से तीव्र दुर्गन्ध आ रही
थी। मोटी टाट के विस्तरे इतने कर्कश थे कि घायल लोग उन्हें दूर
से ही हाथ जोडते थे और अपने कंवलों में लिपटे रहना अधिक
पसंद करते थे। रोगियों के लिए चारपाइयाँ तक न थीं। वे बेचारे
वर्षा मे एक फटी और टपकती हुई टाट के वितान के नीचे केवल
भूमि पर पड़े थे। रात्रि को केवल मोमबत्तियों की धीमी-सी
टिमटिमाहट मे धमाधम चूहे कूदने लगते और भूखे होने के कारण
दुर्बल रोगियों को काट-काटकर उनका रक्त ही चूसने लगते। न
झाड़ू, न साबुन, न तौलिया, न कपड़े, न जूते, न पालिश, न चमचे,
न थाली, न चिलमची, न चाकू, न कैंची, न कतरनी, न मरहम, न
पट्टी, न औषध, न खटिया, न शिविका, न अर्थी! तात्पर्य यह कि
यहाँ कुछ भी नहीं था। हस्पताल के चारों ओर गन्दगी ही गन्दगी
पड़ी थी। एक खिड़की के नीचे छः कुत्ते मरे हुए पड़े सड़ रहे थे।

न नहाने-धोने का प्रबन्ध था, न रसोई का और न ही स्वास्थ्य-र
का। चारों ओर व्यथा, अभाव और प्रमाद के कारण गड़बड़ ग
हुई थी। इस परिस्थिति को देखकर बलवान् से बलवान् मनुष्य
भी हृदय काँप उठता और कठोर से कठोर मनुष्य भी अ
बन्द कर लेता।

पर नाइटिंगेल ने आशा नहीं छोड़ी और कटिबद्ध ह
काम पर डट गई। सब से अच्छी बात यह थी कि वह अपने
बहुत-सी सामग्री लेती आई थी। यद्यपि सैनिक-चिकित्स
(आर्मी मेडिकल बोर्ड) के अध्यक्ष ने उससे कह दिया था कि वहां
वस्तु की भी कमी नहीं, तो भी उसने अपनी बुद्धि पर भरोसा
मार्सेल्स मे बहुत-सी वस्तुएँ खरीद ली थीं, जो स्कूतरी में ब
उपयोगी सिद्ध हुईं। उसके पास धन की भी कमी न थी।
पौंड तो जनता ने इकट्ठा करके भेजे थे और मेक्डानल्ड मह
टाईम्स का कोष (टाईम्स फण्ड) उसके अधीन कर दिया थ

जहाँ इतना घोर अनर्थ हो रहा था, वहाँ अर्दली से
कमांडर तक यही कहते जाते थे कि सब ठीक है। परन्तु
अपने व्रत से तिल भर भी न टली और दुर्दान्त समुद्र में
की भाँति डटी रही। यही कारण था कि स्कूतरी में नि
घोर अन्धकार मे आशा की झलक दिखाई देने लगी।
और झमेले के स्थान पर स्वच्छता और सुव्यवस्था का
गया। दिन रात वह अपने कमरे में से विविध प्रकार के आ
थी, और कई बार स्वयं चौबीस चौबीस घंटे लगातार

डाक्टरों के साथ रोगियों की उपचर्या करती थी। रात को जब सब डाक्टर सो जाते, वह अपने हाथ मे दीपक लिये रोगियों के बीच चक्कर लगाया करती। दस दिन के भीतर ही हस्पताल की दशा इतनी सुधर गई कि रोगी ने जहाँ 'चूँ' की, वहीं उसकी सेवा के लिए एक नर्स पहुँच जाती। यह सब चमत्कार उसी अकेली युवती के कारण से था। यदि उस जैसी कुशाग्रबुद्धि और स्नेहार्द्र-चित्त वाली ललना इस काम के सिर पर न होती तो इंग्लैंड का सारा कोष व्यय कर देने पर भी इतना परिवर्तन नहीं हो सकता था।

जब रणभूमि से क्षत-विक्षत सैनिक स्कूतरी मे लाये जाते तो शल्य-वैद्यों का यह काम था कि न बचने वालो मे से बच जाने वालों को पृथक् कर लेते। एक बार फ्लोरेंस ने पाँच सैनिक ऐसे देखे, जिन्हे असाध्य समझकर पृथक् कर दिया गया था। उसने झट शल्य-वैद्य से पूछा—'क्या इनकी चिकित्सा नहीं हो सकती ?' वैद्य ने उत्तर दिया—'मेरा कर्त्तव्य पहले उनकी चिकित्सा करना है, जिनके बचने की कुछ आशा हो।' फ्लोरेंस ने कहा—'तो क्या मैं इन्हे ले जाऊँ ?' वैद्य बोला—'हम तो इनका बचना असम्भव समझते हैं। आप जो चाहें, करें।' यह सुनकर वह सारी रात उनके पास बैठी रही और चमचे से उन्हें खिलाती पिलाती रही। जब उन्हें कुछ चेतना हो आई तो उनके व्रण धोकर उन्हे धीरज बँधाया। दूसरे दिन वैद्य को मानना पड़ा कि इनकी चिकित्सा हो सकती है और ये बच सकते हैं।

इतना महत्त्व का काम करते हुए भी कई क्षुद्र लोग उस पर आक्षेप करते थे। और कुछ नहीं तो उसके धार्मिक विचारों पर

कटाक्ष करते। परन्तु वह इन कटाक्षों से अपने पथ से किंचिन्मात्र भी विचलित न हुई। महारानी विक्टोरिया और उसके पति आरम्भ से ही फ़्लोरेंस के काम में दिलचस्पी लेते थे। इस विषय में महारानी विक्टोरिया ने जो पत्र सिड्नी हर्बर्ट को लिखा था, उसने न केवल उन छिद्रान्वेषियों का ही मुँह बन्द कर दिया वरन् यह भी प्रकट कर दिया कि महारानी की नाइटिंगेल और उसकी नर्सों में कितनी श्रद्धा है।

महारानी लिखती हैं :—

विंड्सर कॉसल
दिसम्बर ६, १८५४

'क्या आप श्रीमती हर्बर्ट से निवेदन करेंगे कि वे मुझे नाइटिंगेल अथवा श्रीमती ब्रेसब्रिज से आये हुए वृत्तान्तों का ब्योरा प्रायः भेज दिया करें, क्योंकि मुझे घायल सैनिकों के विषय में विस्तार-पूर्वक समाचार नहीं मिलते। रण-क्षेत्र के वृत्तान्त तो अधिकारिवर्ग से बहुत से आ जाते हैं पर औरों की अपेक्षा मुझे घायल सैनिकों की अधिक चिन्ता है।

'आप श्रीमती हर्बर्ट से यह भी कह दें कि मेरी इच्छा है कि नाइटिंगेल और उसकी नर्सें उन बेचारे क्षत और रोगी वीर पुरुषों को बतला दें कि उनकी रानी सब से बढ़कर उनके दुःख में सहानुभूति रखती है और उनके पराक्रम और वीरता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करती है। दिन रात उसे अपने प्यारे सैनिकों का ही ध्यान रहता है।

'श्रीमती हर्बर्ट को ताक़ीद कर दें कि मेरा संदेश उन देवियों तक अवश्य पहुँचा दे, क्योंकि वे महानुभाव योद्धा हमारी सहानुभूति को बहुत मानेंगे।

—विक्टोरिया

स्कूतरी में छः महीने लगाकर फ़्लोरेंस नाइटिंगेल युद्ध-क्षेत्र मे रोगियों और आहतों की अवस्था देखने के लिए वालक्लावा चली गई। उसके साथ टामस नामी एक ढोलची युवक था, जो अपना ढोल बजाने का काम छोड़कर उसका भक्त बन गया था। वह बारह वर्ष का छोकरा बड़ा हँसमुख, चतुर और उत्साही था। उसके टुकड़े टुकड़े हो जायँ पर क्या मजाल कि उसकी प्यारी स्वामिनी को कोई हानि पहुँचा सके।

वहाँ फ्लोरेंस ने गोलियों की बौछार के भीतर सुरंगों और खाइयों मे जाकर देखने का आग्रह किया। उसके साथी तो उससे सहमत हो गये पर सन्तरी डरता था। उसने कहा—'श्रीमती जी, यदि कुछ ऐसा-वैसा हो गया तो ये सभी लोग इस बात के साक्षी होंगे कि मैंने आपको मना कर दिया था।' नाइटिंगेल बोली—'भद्र! मेरे हाथों में से इतने आहत और मृतक निकले हैं, जो शायद ही तुम्हें कभी रण-क्षेत्र में देखने का अवसर मिले। विश्वास रक्खो, मुझे मृत्यु से भय नहीं है।' पर संतरी सच्चा था। उस देवी का जीवन अनमोल था। उसे ऐसे महासंकट में डालना उचित नहीं था।

एक वार जब वह अपनी नर्सों के एक दल के साथ कार्य का निपटारा कर रही थी, तब एकाएक वह सख्त बीमार हो गई। डाक्टरों ने कहा—'इसे भयानक क्रीमियन ज्वर है, तुरन्त ही किसी स्वास्थ्य-आश्रम में ले जाओ।' उसे एक न तट पर, जहाँ वसन्त ऋतु के फूल खिले हुए थे, एक कुटिया में गया। बारह दिन तक वह वहाँ बड़ी शोचनीय अवस्था पड़ी रही।

इस समाचार को सुनकर प्रधान-सेनापति लॉर्ड रैगल बड़ा दुःख हुआ और जब फ्लोरेंस के डाक्टर ने उसे मिलने आज्ञा दी, तब वह घोड़े पर चढ़कर स्वयं उसे मिलने आया। आकर उसने फ्लोरेंस की बीमारी पर बड़ा दुःख प्रकट किया उसके निष्काम सेवाभाव की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। जाते हुए मिलाकर उसने उसके स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना की।

एक वार उसे जंगली फूलों का एक स्तवक भेंट किया जिसको देखकर वह इतनी प्रसन्न हुई कि उसका रोग घटने लगा। डाक्टरों ने उसे तत्काल इंग्लैंड लौट जाने की संमति दी, पर न मानी। ८ अक्टोवर को वह अभी बीमारी से उठकर बैठी थी कि अंग्रेजों और इनके साथियों ने सेवेस्टोपोल पर एक आक्रमण किया। उसी रात रूसी लोग नगर को आग लगा भाग गये। अब सन्धि का प्रस्ताव स्पष्ट सामने दिखाई दे रहा था। इंग्लैंड में उत्सव मनाये जाने लगे। लोग सोचते थे कि रण-क्षेत्र की देवी का किस भाँति धन्यवाद किया जाय। लोगों की इच्छा थी

पहले ही भाँपकर महारानी विक्टोरिया ने सिड्नी हर्बर्ट से यही प्रश्न पूछा।

हर्बर्ट ने उत्तर दिया—'केवल एक ही रूप मे वह इस धन्यवाद को स्वीकार करेगी और वह यह है कि दान इकट्ठा करके लन्दन मे उसके नाम पर एक हस्पताल खोल दिया जाय। इससे उसको यहाँ आकर भी परोपकार करने का अवसर मिल जायगा। उसके लिए इससे अधिक सन्तोषप्रद और कोई वस्तु नहीं हो सकती।'

इस संकल्प को पूरा करने के लिए एक 'नाइटिंगेल हस्पताल फंड' खोला गया और दान इकट्ठा करने के लिए एक विराट् सभा मे सिड्नी हर्बर्ट ने अपने मित्र का एक पत्र पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था—'मैंने एक सैनिक के मुख से बहुत सुन्दर वृत्तान्त सुना है। वह कहता है—फ़्लोरेंस का दर्शनमात्र ही अनन्त शान्ति देने वाला था। पहले वह एक से बोलती, फिर दूसरे से। कई एक को वह मुस्कराकर ही उत्तर दे देती और बहुतों को केवल सिर हिलाकर ही संतुष्ट कर देती। पर कहाँ तक? हम तो सैकड़ों की संख्या में लेटे पड़े थे। पर जब वह पास से होकर निकलती तो हम उसकी छायामात्र को ही देखकर संतुष्ट हो जाते।' इस कथा को सुनाते ही १०,००० पौंड इकट्ठे हो गये। यह था नाइटिंगेल फंड के लिए जनता का दान, जो दिनो-दिन ग़रीबों के पैसों और अमीरों के चेकों से बढ़ता ही जाता था।

अन्त में जब ४४,००० पौंड इकट्ठे हो गये तो फ़्लोरेंस नें स्वयं इसे बन्द करवा दिया और कहा कि अब यह दान फ्रांस मे

सन् १८५७ की बाढ़ से पीड़ित जनों की सहायता करने वाले फंड में जाना चाहिए।

फ्लोरेंस ने यह सारा धन, कन्याओं को हस्पतालों में नर्सों का काम करने की शिक्षा देने के लिए, एक आप्तजनों की समिति (ट्रस्ट) के अधीन कर दिया। इस प्रकार फ्लोरेंस नाइटिंगेल को युद्ध के समय रणभूमि में अग्रसर होने का और शान्ति के समय देश में नर्सों को शिक्षा देने में सब से प्रथम होने का दोहरा सौभाग्य प्राप्त हुआ। पर उसके लिए सब से अधिक गौरव की बात यह हुई कि १८७१ में लंडन में नाइटिंगेल-आश्रम और ट्रेनिंग स्कूल (शिक्षणालय) खोले गये, जो नये सेंट टामस हस्पताल का एक आवश्यक अंग बना दिये गये।

जिन दिनों दान अभी आ ही रहा था और सन्धि की वार्ता चल रही थी, फ्लोरेंस फिर क्रीमिया चली गई। तब वह बचे-खुचे घायलों और शत्रु के देश में ठहरी हुई सेना के रोगियों की देख-भाल करने लगी। इस मध्य में ही उसे महारानी विक्टोरिया की ओर से एक ब्रूच (आभूषण) और निम्न-लिखित पत्र मिला।

विंड्सर कॉसल
जनवरी, १८५६

प्यारी नाइटिंगेल,

मुझे आशा है, तुम्हें ज्ञात ही होगा कि इस नृशंस और घोर युद्ध में जो सेवा-भक्ति तुम ने दिखाई है, उसके लिए मेरे मन में

कितना आदर है। और मुझे यह भी जतलाने की आवश्यकता नहीं जान पडती कि तुम्हारे उस त्याग की मैं मुक्तकण्ठ से सराहना करती हूँ, जो तुमने अपने अपार दया-भाव से वीर सैनिकों का दु.ख दूर करने मे दिखलाया। तुम्हारा बलिदान उन वीरों के बलिदान से किसी प्रकार भी कम नहीं। परन्तु मेरी उत्कट इच्छा है कि अपने भावों के संकेत-रूप मे तुम्हे कुछ भेजूँ। इसलिए इस पत्र के साथ मैं एक आभूषण भेज रही हूँ, जिसके आकार और लेख तुम्हारे महा-पुण्य के काम के स्मारक हैं। आशा है, तुम इसे पसद करोगी और अपनी महारानी की ओर से अत्यन्त आदर का चिह्न समझकर इसे पहना करोगी।

जब तुम देश को लौटोगी तो मैं तुम्हारे-जैसी महिला का, जिसने स्त्री-जाति के लिए एक आदर्श उपस्थित कर दिया है, दर्शन करके अपने आपको कृतार्थ समझूँगी। तुम्हारे स्वास्थ्य और दीर्घ आयु के लिए सदा प्रार्थना करती हूँ।

तुम्हारी हितैषिणी
विक्टोरिया

गवर्नमेंट भी उसके काम की प्रशंसा करने में पीछे नहीं रही। जब सन् १८५६ की वसन्त ऋतु मे सन्धि के विषय मे बातचीत हो रही थी तो लॉर्ड एलस्मियर ने उसकी सेवाओं की बडे सार-गर्भित शब्दों मे सराहना की।

सन्धि हो जाने के चार मास पश्चात् जून १८५६ में जब सभी

सैनिक अपने-अपने घरों को विदा हो गये तब फ़्लोरेंस भी अपने देश को लौटी। पर लौटने से पहले वालक्लावा की पहाड़ियों पर, जहाँ सारे यूरोप की आँखों के सामने इंग्लैंड ने अपनी वीरता का परिचय दिया था, एक बहुत बड़ी सूली (क्रॉस) का चिह्न बनवा आई। उस पर लिखवा दिया—'प्रभो ! हमारे ऊपर दया करो।' उसने यह चिह्न जिसका नाम 'नाइटिंगेल क्रॉस' पड़ गया, वीरगति को प्राप्त हुए योद्धाओं और स्वर्गवासिनी नर्सों की स्मृति में बनवाया था।

सारी जाति उसका स्वागत करने के लिए उत्सुक थी। गवर्नमेंट ने उसे लाने के लिए लड़ाई का जहाज भेजना चाहा, पर उसने स्वीकार न किया। वह स्कूतरी से फ्राँसीसी जहाज पर चढ़कर फ्राँस में से होती हुई इंग्लैंड जा पहुँची। वहाँ से ८ अगस्त १८५६ को अपने घर के समीपतर रेलवे स्टेशन 'ह्वाइट स्टैंडवेल' पर पहुँच गई। वहाँ से चुपचाप 'ली हर्स्ट' में जा पहुँची, जहाँ काले कपड़ों में उसे घर के पुराने रसोइये ने ही पहचाना।

उसका स्वास्थ्य बिगड़ चुका था। डाक्टरों ने विश्राम करने का अनुरोध किया। पर वह न मानती थी। उसे विश्राम करने की बान ही न थी। उसका कार्य-क्षेत्र अभी विस्तृत था और उसने अपने आपको उसी के निमित्त अर्पण कर दिया।

लौटने के कुछ सप्ताह पीछे उसने महारानी विक्टोरिया के पत्र के अनुसार वही आभूषण (ब्रूच) पहनकर महारानी के

दर्शन किये। इसके पश्चात् वह फिर कई वार महारानी और उसके राजकुमार पति से मिलती रही।

वह लेखिका भी उच्च कोटि की थी। सन् १८५६ मे उसने 'नोट्स औन होस्पिटल्स' नाम की एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी। तत्पश्चात् १८६० मे 'नोट्स औन नर्सिंग' नाम की पुस्तक लिखी, जिसकी एक लाख प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गई। और भी छोटी छोटी कई पुस्तके लिखीं। स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषयों मे उसे प्रामाणिक माना जाने लगा। पालन-पोषण (नर्सिंग) और उपचर्या के विषय मे यूरोप भर से लोग उसकी संमति लेने लगे।

नवम्बर १९०७ मे महाराज एडवर्ड सप्तम ने उसे 'औडेर ऑफ़ मेरिट' की उपाधि दी। आज तक केवल वही एक स्त्री हुई है, जिसे इतना अधिक संमान मिला हो। फरवरी १९०८ मे लंडन कॉर्पोरेशन ने फ़्लोरेंस को सोने के वक्स मे 'फ्रीडम ऑफ़ दि सिटी' नाम का प्रशंसापत्र देने का निश्चय किया। फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने प्रशंसापत्र तो आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया, पर सोने के वक्स पर जो सौ पौंड व्यय किये जाने थे, वे 'कीन विक्टोरिया जुबिली इंस्टिट्यूट फ़ौर् नर्सिस् एण्ड दि हस्पिटल फ़ौर् इन्वैलिड जेंटल विमन, हार्ले स्ट्रीट' को दान दे दिये।

१३ अगस्त, १९१० की साँझ को वह शान्तिपूर्वक स्वर्ग सिधार गई। अगस्त २० शनिवार को उसे एम्व्ले पार्क मे उसके पुराने घर के पास एक गिरजाघर मे धरती माता की गोद मे सुला

दिया गया। उसके संरक्षकों ने उसे वेस्टमिंस्टर के गिरजाघर में दफ़न स्वीकार न किया। वह दिखावे से सदा घृणा करती थी और उसके स्वभाव के अनुकूल उसका अन्त्येष्टि-संस्कार भी विनीतरूप से ही किया गया।

महारानी विक्टोरिया

संसार के इतिहास मे महारानी विक्टोरिया का नाम उनकी दयालुता, योग्यता और विद्वत्ता के लिए सदा आदर और श्रद्धा की दृष्टि से स्मरण किया जायगा। उनका जीवन अपनी प्रजा की हित-चिन्तना मे ही बीता। इनके शासन-काल मे इंगलैण्ड और भारत ने अनेक विषयों में बडी उन्नति की और प्रजा का ज्ञान तथा सुख बढ़ा। पत्नी, माता, स्त्री और शासन-कर्त्री, सभी दृष्टियों से उनके व्यवहार भारतीयों के लिए आदर्श बने और उनकी इस लोकोत्तर योग्यता के कारण ही ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार अधिक हुआ। महारानी अपने समय के महान् व्यक्तियों में से एक हुई हैं। इन्होंने ग्रेट-ब्रिटेन का ६४ वर्षों तक शासन किया।

बाल्यकाल

महारानी विक्टोरिया के पिता जार्ज तृतीय के चौथे पुत्र थे और उनकी माता लुइसा सेक्सकोबर्ग की राजकुमारी थी। विक्टोरिया

मानी हो जाते हैं, वे उसके उत्तरदायित्व से परिचित नहीं होते। तो मुझको भली बनना ही होगा। मुझे प्रतीत होता है कि कारण मेरी माँ और आप मेरी शिक्षा पर इतना अधिक ध्यान हैं। मैं अवश्य भली बनूँगी।'

अध्यापिका ने कहा—'परन्तु यदि सम्राट् के यहाँ कोई पुत्र न्न हुआ तो गद्दी पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहेगा।'

राजकुमारी ने उत्तर दिया—'मुझे इससे कुछ भी दुःख नहीं ा। सम्राट् मुझसे बहुत स्नेह करते हैं।'

राजकुमारी इतनी सरल-हृदया थी।

विक्टोरिया को धार्मिक शिक्षा भी लुइसा ने भली प्रकार थी। विक्टोरिया प्रार्थना के समय तन्मय और तल्लीन होकर नती थी। अपना जीवन सदा उसी प्रकार व्यतीत करने के प्रयत्न रहती थी।

विक्टोरिया की अवस्था १८ साल की थी कि एक दिन ात.काल, जब विक्टोरिया अभी सो कर भी नहीं उठी थी, केन्टरबरी लाट पादरी और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री उसके महल में हुँचे। विक्टोरिया को जगाया गया और यह समाचार दिया गया क 'सम्राट् मर गये हैं, सम्राज्ञी चिरायु हों।'

महारानी बनते ही विक्टोरिया ने जो पहला आदेश दिया, ह यह था कि सब लोग प्रभु से प्रार्थना करें। प्रार्थना के पश्चात् न्होंने एक सहानुभूति-सूचक पत्र चाची को लिखा। पत्र में

को गुणवती वनाने का वहुत कुछ श्रेय उनकी माता को है।
विक्टोरिया के प्रत्येक कार्य पर कड़ी निगरानी रखती थीं और
कहीं उन्हें विक्टोरिया के अंदर त्रुटि मालूम होती, वहीं वे
वतलाकर फिर वैसा न होने के लिए सचेत कर देतीं। खान
खेल-कूद और शिक्षा पर भी उनकी माता हर समय कड़ी
रखती थीं। यही कारण था कि विक्टोरिया में उन गुणों का
वचपन मे ही पड़ चुका था, जिन गुणों से वे महारानी होने
जगत्-प्रसिद्ध और लोक-प्रिय हुईं।

छः वर्ष की अवस्था तक विक्टोरिया के राजगद्दी पर
का किसी को भी गुमान न था। छः साल के वाद जव राज
में और कोई वचा न रहा, तव सव को निश्चय हो गया
विक्टोरिया ही राजगद्दी पर वैठेगी। विक्टोरिया को वचपन से
विलासिता से दूर रखकर परिश्रमी जीवन विताने की शिक्षा दी
थी। वह वचपन मे स्वयं अपने वगीचे को सींचती थी। सव
विदित था कि एक दिन राजकुमारी सम्राज्ञी होगी। किन्तु
यह वात राजकुमारी को नहीं वताई थी। एक दिन राजकुमारी
उसकी अध्यापिका ने वताया कि अपने चचा के मरने पर तू इं
की महारानी होगी। राजकुमारी ने आश्चर्य से कहा—'ब्रिटेन
राजगद्दी मेरे इतने समीप है और मुझे इसकी खवर तक नहीं!'

अध्यापिका वोली—'तुम्हारी माँ ने इस वात को
इसलिए छिपा रक्खा होगा कि कहीं तुम अभिमानिनी न हो जा

राजकुमारी ने कहा—'जो लोग रानी वनने की इच्छा

ाभिमानी हो जाते हैं, वे उसके उत्तरदायित्व से परिचित नहीं होते। तो मुझको भली बनना ही होगा। मुझे प्रतीत होता है कि ी कारण मेरी माँ और आप मेरी शिक्षा पर इतना अधिक ध्यान ो हैं। मैं अवश्य भली बनूँगी।'

अध्यापिका ने कहा—'परन्तु यदि सम्राट् के यहाँ कोई पुत्र पन्न हुआ तो गद्दी पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहेगा।'

राजकुमारी ने उत्तर दिया—'मुझे इससे कुछ भी दुःख नहीं गा। सम्राट् मुझसे बहुत स्नेह करते हैं।'

राजकुमारी इतनी सरल-हृदया थीं।

विक्टोरिया को धार्मिक शिक्षा भी लुइसा ने भली प्रकार ी। विक्टोरिया प्रार्थना के समय तन्मय और तल्लीन होकर ी थी। अपना जीवन सदा उसी प्रकार व्यतीत करने के प्रयत्न हती थी।

विक्टोरिया की अवस्था १८ साल की थी कि एक दिन ःकाल, जब विक्टोरिया अभी सो कर भी नहीं उठी थी, केन्टरबरी लाट पादरी और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री उसके महल मे चे। विक्टोरिया को जगाया गया और यह समाचार दिया गया 'सम्राट् मर गये हैं, सम्राज्ञी चिरायु हों।'

महारानी बनते ही विक्टोरिया ने जो पहला आदेश दिया, यह था कि सब लोग प्रभु से प्रार्थना करें। प्रार्थना के पश्चात् होंने एक सहानुभूति-सूचक पत्र चाची को लिखा। पत्र मे उन्हे

को गुणवती बनाने का बहुत कुछ श्रेय उनकी माता को है। वे विक्टोरिया के प्रत्येक कार्य पर कड़ी निगरानी रखती थीं और जहाँ कहीं उन्हे विक्टोरिया के अंदर त्रुटि मालूम होती, वहाँ वे उन्हें बतलाकर फिर वैसा न होने के लिए सचेत कर देतीं। खान-पान, खेल-कूद और शिक्षा पर भी उनकी माता हर समय कड़ी दृष्टि रखती थीं। यही कारण था कि विक्टोरिया मे उन गुणों का संस्कार वचपन मे ही पड़ चुका था, जिन गुणों से वे महारानी होने पर जगत्-प्रसिद्ध और लोक-प्रिय हुई।

छः वर्ष की अवस्था तक विक्टोरिया के राजगद्दी पर वैठने का किसी को भी गुमान न था। छः साल के वाद जब राजपरिवार मे और कोई बचा न रहा, तब सब को निश्चय हो गया कि विक्टोरिया ही राजगद्दी पर वैठेगी। विक्टोरिया को वचपन से ही विलासिता से दूर रखकर परिश्रमी जीवन विताने की शिक्षा दी गई थी। वह वचपन मे स्वयं अपने वगीचे को सींचती थी। सब को विदित था कि एक दिन राजकुमारी सम्राज्ञी होगी। किन्तु लुइमा ने यह वात राजकुमारी को नहीं वताई थी। एक दिन राजकुमारी को उसकी अध्यापिका ने वताया कि अपने चचा के मरने पर तू इंग्लैंड की महारानी होगी। राजकुमारी ने आश्चर्य से कहा—'ब्रिटेन की राजगद्दी मेरे इतने समीप है और मुझे इसकी खबर तक नहीं!'

अध्यापिका वोली—'तुम्हारी माँ ने इस वात को तुमसे इसलिए छिपा रक्खा होगा कि कहीं तुम अभिमानिनी न हो जाओ!'

राजकुमारी ने कहा—'जो लोग रानी वनने की इच्छा से

अभिमानी हो जाते हैं, वे उसके उत्तरदायित्व से परिचित नहीं होते। अब तो मुझको भली बनना ही होगा। मुझे प्रतीत होता है कि इसी कारण मेरी माँ और आप मेरी शिक्षा पर इतना अधिक ध्यान देती हैं। मैं अवश्य भली बनूँगी।'

अध्यापिका ने कहा—'परन्तु यदि सम्राट् के यहाँ कोई पुत्र उत्पन्न हुआ तो गद्दी पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं रहेगा।'

राजकुमारी ने उत्तर दिया—'मुझे इससे कुछ भी दुःख नहीं होगा। सम्राट् मुझसे बहुत स्नेह करते हैं।'

राजकुमारी इतनी सरल-हृदया थीं।

विक्टोरिया को धार्मिक शिक्षा भी लुइसा ने भली प्रकार दी थी। विक्टोरिया प्रार्थना के समय तन्मय और तल्लीन होकर सुनती थी। अपना जीवन सदा उसी प्रकार व्यतीत करने के प्रयत्न में रहती थी।

विक्टोरिया की अवस्था १८ साल की थी कि एक दिन प्रातःकाल, जब विक्टोरिया अभी सो कर भी नहीं उठी थी, केन्टरबरी के लाट पादरी और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री उसके महल मे पहुँचे। विक्टोरिया को जगाया गया और यह समाचार दिया गया कि 'सम्राट् मर गये हैं, सम्राज्ञी चिरायु हों।'

महारानी बनते ही विक्टोरिया ने जो पहला आदेश दिया, वह यह था कि सब लोग प्रभु से प्रार्थना करें। प्रार्थना के पश्चात् उन्होंने एक सहानुभूति-सूचक पत्र चाची को लिखा। पत्र मे उन्हे

महारानी नाम से सम्बोधित किया गया था। इस पर किसी ने आपत्ति की पर महारानी ने उत्तर दिया—'यह यथार्थ है कि चौथे विलियम की धर्मपत्नी अब महारानी नहीं हैं। पर मैं क्यों उन्हें इस दुर्घटना की याद दिलाऊँ।'

एक वर्ष के बाद बड़ी धूमधाम से महारानी का विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया गया। ब्रिटिश प्रजा ने तब जी भरकर आनन्दोत्सव मनाये।

विवाहित जीवन

२१ वर्ष की अवस्था में सैक्सबर्ग के राजकुमार एलबर्ट के साथ महारानी का विवाह हो गया। सम्राज्ञी होने के कारण बहुत से राजकुमारों ने विक्टोरिया के साथ विवाह करना चाहा, किन्तु उन्होंने अपने बाल्यावस्था के साथी एलबर्ट को ही अन्त में चुना। दोनों एक-दूसरे को हृदय से चाहते थे। महारानी एलबर्ट को प्रसन्न रखना अपना धर्म समझती थीं।

पति की मृत्यु

महारानी के चार पुत्र और पाँच कन्याएँ हुईं। जब महारानी की अवस्था ४२ वर्ष की थी, तब उनके पति प्रिंस एलबर्ट का देहान्त हो गया। इससे उन्हें बड़ा क्लेश पहुँचा और इसके बाद वर्षों तक वह किसी भी प्रकार के उत्सव में सम्मिलित नहीं हुईं। पति के वियोग का दुःख उन्हें जीवन भर रहा।

एनी बेसेंट

एक विदेशी महिला होते हुए भी एनी बेसेंट ने भारत की जो सेवा की है, वह भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाने के योग्य है। भारतीय संस्कृति और साहित्य से वह पूर्णतया प्रभावित थीं। एनी बेसेंट का जन्म सन् १८४७ ई० के अक्टोबर मास मे लंदन नगर में हुआ। उनके पिता अंग्रेज़ थे और माता आयरिश महिला थीं। उनके पिता विलियम पेज उड लंदन के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे। बाल्यकाल मे एनी बेसेंट कुमारी एनी के नाम से पुकारी जाती थीं। इनके पिता दर्शन और धर्मशास्त्रों के भी विद्वान् थे।

बाल्यकाल

बाल्यकाल में कुमारी एनी को संगीत और यूरोप की विभिन्न भाषाओं की शिक्षा दी गई। विख्यात अंग्रेज़ औपन्यासिक कैप्टन मैरियेट की बहन से आपकी विशेष प्रीति थी। उस काल में वे

विक्टोरिया का देहान्त हो गया और इस दुर्घटना से सारे साम्राज्य मे शोक छा गया। इनके शासनकाल मे ब्रिटिश-साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त कला, कौशल और विज्ञान की भी बड़ी उन्नति हुई। महारानी का स्वभाव बडा सरल, दयालु और मिलनसार था।

एनी बेसेंट

एक विदेशी महिला होते हुए भी एनी बेसेंट ने भारत की जो सेवा की है, वह भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाने के योग्य है। भारतीय संस्कृति और साहित्य से वह पूर्णतया प्रभावित थीं। एनी बेसेंट का जन्म सन् १८४७ ई० के अक्टोबर मास में लंदन नगर में हुआ। उनके पिता अंग्रेज़ थे और माता आयरिश महिला थीं। उनके पिता विलियम पेज उड लंदन के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे। बाल्यकाल मे एनी बेसेंट कुमारी एनी के नाम से पुकारी जाती थीं। इनके पिता दर्शन और धर्मशास्त्रों के भी विद्वान् थे।

बाल्यकाल

बाल्यकाल में कुमारी एनी को संगीत और यूरोप की विभिन्न भाषाओं की शिक्षा दी गई। विख्यात अंग्रेज़ औपन्यासिक कैप्टन मैरियेट की वहन से आपकी विशेष प्रीति थी। उस काल में वे

विक्टोरिया का देहान्त हो गया और इस दुर्घटना से सारे साम्राज्य में शोक छा गया। इनके शासनकाल में ब्रिटिश-साम्राज्य की वृद्धि के अतिरिक्त कला, कौशल और विज्ञान की भी बड़ी उन्नति हुई। महारानी का स्वभाव बड़ा सरल, दयालु और मिलनसार था।

एक विदेशी महिला होते हुए भी एनी बेसेंट ने भारत की जो सेवा की है, वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य है। भारतीय संस्कृति और साहित्य से वह पूर्णतया प्रभावित थी। एनी बेसेंट का जन्म सन् १८४७ ई० के अक्टोवर मास मे लंदन नगर में हुआ। उनके पिता अंग्रेज़ थे और माता आयरिश महिला थी। इनके पिता विलियम पेज उड लंदन के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे। बाल्यकाल में एनी बेसेंट कुमारी एनी के नाम से पुकारी जाती थी। इनके पिता दर्शन और धर्मशास्त्रों के भी विद्वान् थे।

बाल्यकाल

बाल्यकाल में कुमारी एनी को संगीत और यूरोप की विभिन्न भाषाओं की शिक्षा दी गई। विख्यात अंग्रेज़ औपन्यासिक कैप्टन मैरिएट की बहन से आपकी विशेष प्रीति थी। उस काल में वे

जर्मनी, फ्राँस आदि देशों का भ्रमण करने गईं। इस भ्रमण में उन्हें बड़ा अनुभव हुआ।

विवाह

यूरोप भ्रमण के पश्चात् कुमारी उड इंग्लैण्ड वापस आ गईं। इसके बाद सन् १८६७ ई० मे रेवरेण्ड मि० फ्रैङ्क बेसेंट नामक एक पादरी से इनका विवाह हो गया। विवाह से इनके जीवन की धारा ही बदल गई। रेवरेण्ड बेसेंट से उनका मन नहीं मिला। दोनों की प्रवृत्ति, रुचि, शिक्षा और आदर्श सर्वथा पृथक्-पृथक् थे। इन कारणों से उनका विवाहित जीवन दुःखपूर्ण हो उठा। एनी के पिता का देहान्त हो ही चुका था। सन् १८७१ में उनके दोनों बच्चे बीमार हो गये। एनी बेसेंट ने उनकी दिन-रात सेवा की। बच्चे मरते-मरते बच तो गये, पर रोगी हो गये। बच्चों के अच्छे होने पर एनी बेसेंट स्वयं बीमार हो गईं।

ईश्वर में अविश्वास

इसी समय श्रीमती एनी बेसेंट के मन में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। बाल्यकाल की दरिद्रता, पिता की अकाल मृत्यु और बच्चों की बीमारी की पीड़ा से उनके चित्त को बड़ी चोट पहुँची और इससे उनके हृदय में यह धारणा हो गई कि ईश्वर है ही नहीं। इधर पतिदेव से निरन्तर झगड़ा रहता था। वे एनी के ईश्वर पर विश्वास न करने को मूर्खता समझते थे। इन परिस्थितियों में तंग आकर एनी बेसेंट ने आत्महत्या करना निश्चित किया। किन्तु

आत्मघात के लिए ज्यों ही वह विप को अपने मुँह के पास ले गई, भीतर से उनकी आत्मा कराह उठी—'हे भयभीते, अभी कल तू शहीद होने का सपना देख रही थी, आज कुछ वर्षों के कष्ट को न सह सकी !'

एनी वेसेंट का ज्ञान जाग उठा । उसके बाद उन्होंने घोर नास्तिकता के स्थान पर शुद्ध आस्तिकता के ग्रन्थों का पढना आरम्भ कर दिया । पूर्व की भी पुस्तके पढ़ डालीं । फिर भी मन को शान्ति नहीं मिली । पर बाद मे किसी घटना से उन्होंने दुखियों की सेवा करने का निश्चय कर लिया । और वे समझ गईं कि कष्ट ही मनुष्य को परखने की कसौटी है । मनुष्य की परीक्षा का यही साधन है । विपत्तियों का सामना किये बिना मनुष्य अपूर्ण रहता है । इन सब बातों से उन्हे बहुत कुछ शान्ति मिली तथा ईश्वर मे दृढ विश्वास हो गया ।

पति का परित्याग

सन् १८७३ मे एनी वेसेंट का जीवन एकदम पलट गया । उनके पति को लोगों ने उकसाया कि ऐसी स्त्री को अपनी पत्नी बनाकर रखना कहाँ तक उचित है, जो न तो गिरजाघर मे जाती है और न ईसा को ईश्वर का पवित्र पुत्र स्वीकार करती है । अन्त में पादरी वेसेंट को अपनी स्त्री से कहना पडा कि या तो तुम अपने धार्मिक विचार बदलकर गिरजाघर आने जाने के विवाद को बंद करो अन्यथा यह घर छोड़ दो ।

ऐनी वेसेंट की आयु उस समय २६ वर्ष की ही थी। एनी वेसेंट को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो अपने सिद्धान्तों के लिए शहीद होने का अवसर उनके लिए आ पहुँचा है। उन्होंने पति को छोड़ना ही उचित समझा और तलाक दे दिया। पति ने उनके लिए एक ऐसी पेन्शन बाँध दी, जिससे वे केवल अपना ही निर्वाह बड़ी कठिनता से कर सकें।

नई समस्या

तलाक के पश्चात् एनी वेसेंट बड़ी प्रसन्न हुई। अदालत ने उनकी कन्या को उनके साथ ही रहने की आज्ञा दे दी थी। अब उनके लिए अपने विचारों के अनुसार चलने का मार्ग खुल गया। पराधीनता जाती रही। पर उनके सामने अपनी बूढ़ी माता और छोटी बच्ची के भरण-पोषण की समस्या बड़ी भयानक थी। बड़ी कठिनता से इधर-उधर ठोकरें खाने पर बहुत थोड़ी आय का काम उन्हें मिला। कुछ दिनों बाद उनकी माता का देहान्त हो गया। इससे इन्हें बड़ा दुःख हुआ। उधर आर्थिक कष्ट तो था ही।

लेखन-शक्ति

एनी वेसेंट में लेखन-शक्ति पहले से ही थी। पहले उन्होंने एक धर्मविषयक पुस्तक लिखी और कुछ कहानियाँ भी लिखीं। पुस्तक किसी भी प्रकाशक ने नहीं ली। एक कहानी उन्होंने 'फ़ेमिली हेरल्ड' समाचार पत्र में छपने के लिए भेजी। इसका पुरस्कार उन्हें ३० शिलिंग मिला। लिखने के फल-स्वरूप यह उनकी पहली आय

थी। इसके बाद उन्होंने कई छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं, जिन पर उन्हें निरन्तर पुरस्कार मिलता रहा। पर इस आय से आर्थिक कष्ट कम नहीं हो सका। इस बीच में उन्हे मि० स्कॉट नामक एक व्यक्ति से बडी सहायता मिली।

एक दिन श्रीमती एनी बेसेंट स्वतंत्र विचार वालों की सभा में गई और वहाँ चार्ल्स ब्रैडला नामक अति प्रसिद्ध व्याख्याता का 'ईसा तथा कृष्ण की तुलना' विषय पर उन्होंने व्याख्यान सुना। इस व्याख्यान से वह बडी प्रभावित हुई और चार्ल्स ब्रैडला से इनका परिचय हो गया। इस विद्वान् पुरुष ने एनी बेसेंट को अपने विचारों से प्रभावित कर पूर्ण निरीश्वरवादी बना दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में

धार्मिक विषयों में अधिक दिलचस्पी होने पर भी एनी बेसेंट को राजनीतिक क्षेत्र में आना पडा। यह समय ब्रिटिश-साम्राज्य की उन्नति का था और यही समय इंग्लैण्ड के अधीनस्थ राज्यों में स्वाधीनता की भावना उत्पन्न होने का भी था। आयर्लैण्ड मे अंग्रेज़ों के विरुद्ध भाव बहुत तीव्र हो गये थे। मिश्र मे साम्राज्य के विरुद्ध जनता में प्रबल आन्दोलन जारी थे। दक्षिण अफ्रीका में ट्रान्सवालवासी अभागे भारतीय कुलियों की दुर्दशा भारत-सरकार के लिए लज्जाजनक सिद्ध हो रही थी। भारतीय जनता में भी कांग्रेस द्वारा संचालित स्वराज्य-आन्दोलन बल पकड़ रहा था। इंग्लैण्ड में भी अमीरों और गरीबों की बुरी दशा थी।

एनी बेसेंट पर इन बातों का बड़ा प्रभाव पड़ा और वे विचलित हो उठीं। उन्होंने अपनी शक्ति पीड़ितों के पक्ष में लगा दी। वे चारों ओर सभाएँ कराने लगीं। इन सभाओं में अंग्रेज प्रजा को सरकार के अत्याचारों का वर्णन सुनाया जाता था और पीड़ितों से कहा जाता था कि वे अपने बल पर खड़े होने का प्रयत्न करें। ब्रैडला महोदय के साथ मिलकर एनी बेसेंट ने 'नेशनल रिफार्मर' पत्र का सम्पादन भी शुरू किया। ब्रैडला की मृत्यु तक वह उस पत्र की उप-सम्पादिका रहीं। इससे उन्हें पत्र-सम्पादन-कला का अच्छा अनुभव हो गया। इस समय उनकी लेखन-शक्ति तो बहुत विकसित हो ही चुकी थी। इसके अतिरिक्त इनके व्याख्यान भी बड़े प्रभावशाली होते थे। सार्वजनिक क्षेत्र में जहाँ एनी बेसेंट को यश प्राप्त हुआ, वहाँ ब्रैडला के साथ उन्हें तरह-तरह के अपमान भी सहने पड़े।

सत्य की प्राप्ति

जिस सत्य के पीछे वह पागल-सी घूम रही थीं, वही सत्य क्रमशः उनके हाथ में आ गया। अचानक उनकी उस महिला से भेंट हो गई; जो दया और ममता की अवतार, साथ ही साथ ईश्वरीय विश्वास की भी पवित्र मूर्ति थीं। यह थीं श्रीमती ब्लैवेट्स्की। एनी बेसेंट सरीखी अति उच्च चरित्रवाली पवित्र आत्मा को अपनाते श्रीमती ब्लैवेट्स्की को क्या देर लगती थी?

श्रीमती ब्लैवेट्स्की थियोसोफ़िकल समाज की संस्थापिका थीं। सन १८७५ में उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका में इस समाज

की स्थापना की थी। थियोसोफ़ी का अर्थ है—'दैवी ज्ञान'। श्रीमती ब्लैवेट्स्की द्वारा इसके सिद्धान्तों का एनी बेसेंट पर पूरा प्रभाव पड़ा। अब इन्होंने अपने कार्य-क्रम को बदल दिया। उन्हीं के कथनानुसार उन्हे एक वास्तविक सत्य का दर्शन हुआ।

भारत के लिए आन्दोलन

उन दिनों आयर्लैंण्ड मे स्वातत्र्य-आन्दोलन बढ़ता जा रहा था। इस कारण ब्रिटेन की नीति से खीझी हुई एनी बेसेंट ने भारत तथा आयर्लैंण्ड के लिए तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार वह मि० ब्रैडला के साथ उत्साहपूर्वक कार्य करने लगीं। इस न्याय-युद्ध के कारण चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई। नास्तिकता के दिनों में भी वे अपने त्याग और विचारों के लिए सम्मानित थीं। देश-विदेश से बड़े-बड़े आस्तिक इनके पास पत्र भेजकर गूढ धार्मिक विषयों पर इनसे चर्चा करते थे। इंग्लैण्ड में उनके आन्दोलन का उद्देश्य श्रमिक और ग़रीब श्रेणी के लोगों को ब्रिटिश पार्लियामेन्ट मे प्रतिनिधित्व दिलाकर उनके कष्टों को मिटाना था। इस आन्दोलन का बडा प्रभाव पडा और कई घटनाएँ घटीं। इन्होंने मि० ब्रैडला को पार्लियामेन्ट का मेम्बर चुनवाने के कार्य में बड़े कष्ट सहे। अन्त मे बड़े विरोध और कई घटनाओं के बाद मि० ब्रैडला मेम्बर चुन लिये गये। पार्लियामेन्ट में मि० ब्रैडला श्रमिकों और मज़दूरों के पक्ष मे तथा भारत और आयर्लैंण्ड में सरकार की नीति के विरोध में सदा प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार वे बराबर भारत की समस्याओं की ओर पार्लियामेन्ट का ध्यान खींचते रहे।

कुछ दिनों बाद ऐनी बेसेंट और ब्रैडला में मतभेद हो गया और दोनों के कार्यक्षेत्र बदल गये। इसके बाद इन्होंने मनुष्यमात्र की सेवा के लिए 'लिंक' नामक अखबार निकाला, जिसका उद्देश्य जनता की सेवा के साथ-साथ एक विशेष सिद्धान्त (थियोसोफी) का प्रचार भी था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई प्रभावशाली संस्थाओं की स्थापना भी की, जिनका प्रधान उद्देश्य मजदूरों के कष्ट कम करना था।

श्रीमती ब्लैवेट्स्की से प्रभावित होकर एनी बेसेंट ने थियोसोफ़ी धर्म स्वीकार कर लिया, जिससे सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक निरीश्वरवादी को ईश्वर में विश्वास रखने वाला बनाना श्रीमती ब्लैवेट्स्की के लिए बड़े गौरव की बात थी। कुछ दिनों बाद उनके उत्साही साथी नेता मि० ब्रैडला का देहान्त हो गया। इन्हीं दिनों इनकी गुरुदेवी ब्लैवेट्स्की का भी देहावसान हो गया और मरते समय वे अपना सारा कार्य-भार एनी बेसेंट के अधीन कर गईं। ब्लैवेट्स्की ने थियोसोफ़िकल समाज तथा दरिद्रों के लिए अपनी विशाल धन-राशि ही नहीं, अपितु अपना जीवन ही अर्पित किया हुआ था। उनका जीवन परोपकार का एक जीता-जागता उदाहरण था। एनी बेसेंट उनकी सब से अधिक प्रिय शिष्या थीं। सत्य के लिए श्रीमती बेसेंट ने अपने सगे नातेदारों तक को छोड़ा था, सत्य के ही लिए उन्होंने अनेक त्याग किये और असंख्य कष्ट सहे।

रचनाएँ

इस दैवी ज्ञान के पीछे एनी बेसेंट ने बड़ा कठिन परिश्रम

किया और वड़ा अध्ययन किया। थियोसोफ़ी धर्म मे प्रत्येक मत का 'पैग़म्बर' सत्य को खोजने वाला तथा विश्वरूपी कक्षा का अध्यापक समझा जाता है। एनी वेसेंट ने सभी धर्मों का पर्याप्त अध्ययन किया था। 'थियोसोफ़ी' नामक पत्र मे ये अपने लेखों द्वारा ज्ञान-वर्षा किया करती थीं। भारतीय स्वराज्य आन्दोलन के पक्ष मे भी उन्होंने वहुत कुछ लिखा। थियोसोफ़ी पर उनकी 'प्राचीन विद्या' नामक पुस्तक पढने योग्य है। 'महासमर की कहानी' मे महाभारत की कथा को उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से लिखा है कि भारत की सभी भाषाओं मे उसका अनुवाद हो गया है। भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता का उन्होंने अंग्रेज़ी मे अत्यन्त सुन्दर अनुवाद किया। इस अनुवाद की अव तक लाखों प्रतियाँ छप चुकी हैं। भारत-धर्म पर भी उन्होंने एक वहुमान्य पुस्तक लिखी।

एनी वेसेंट ने भारतीय धर्मों का गहरा अध्ययन किया था। हिन्दू-धर्म पर उनकी वडी भक्ति थी। हिन्दू-धर्म की वहुत-सी गूढ वातो को उन्होंने अपने 'थियोसोफ़िकल-समाज' में भी ले लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-धर्म की छाया ने थियोसोफ़ी (दैवी ज्ञान) के धर्म को भी चमका दिया। वास्तव में यह धर्म हिन्दू-धर्म का एक भागमात्र है।

भारत में

एनी वेसेंट ने भारत पर सव से वड़ा उपकार यह किया कि इस देश के निवासियों के हृदयों में भारतीय धर्म के प्रति आदर का भाव उत्पन्न कराया तथा उनके हृदयों में अपनी सभ्यता के प्रति प्रेम

कुछ दिनों बाद ऐनी बेसेंट और ब्रैडला मे मतभेद हो गया और दोनों के कार्यक्षेत्र बदल गये । इसके बाद इन्होंने मनुष्यमात्र की सेवा के लिए 'लिंक' नामक अखबार निकाला, जिसका उद्देश्य जनता की सेवा के साथ-साथ एक विशेष सिद्धान्त (थियोसोफ़ी) का प्रचार भी था । इसके अतिरिक्त उन्होंने कई प्रभावशाली संस्थाओं की स्थापना भी की, जिनका प्रधान उद्देश्य मज़दूरों के कष्ट कम करना था ।

श्रीमती ब्लैवेट्स्की से प्रभावित होकर एनी बेसेंट ने थियोसोफ़ी धर्म स्वीकार कर लिया, जिससे सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। एक निरीश्वरवादी को ईश्वर में विश्वास रखने वाला बनाना श्रीमती ब्लैवेट्स्की के लिए बड़े गौरव की बात थी । कुछ दिनों बाद उनके उत्साही साथी नेता मि० ब्रैडला का देहान्त हो गया । इसी वर्ष इनकी गुरुदेवी ब्लैवेट्स्की का भी देहावसान हो गया और मरते समय वे अपना सारा कार्य-भार एनी बेसेंट के अधीन कर गईं। ब्लैवेट्स्की ने थियोसोफ़िकल समाज तथा दरिद्रों के लिए अपनी विशाल धन-राशि ही नहीं, अपितु अपना जीवन ही अर्पित किया हुआ था । उनका जीवन परोपकार का एक जीता-जागता उदाहरण था । एनी बेसेंट उनकी सब से अधिक प्रिय शिष्या थीं । सत्य के लिए श्रीमती बेसेंट ने अपने सगे नातेदारों तक को छोड़ा था, सत्य के ही लिए उन्होंने अनेक त्याग किये और असंख्य कष्ट सहे ।

रचनाएँ

इस दैवी ज्ञान के पीछे एनी बेसेंट ने बड़ा कठिन परिश्रम

किया और वड़ा अध्ययन किया । थियोसोफ़ी धर्म मे प्रत्येक मत का 'पैग़म्बर' सत्य को खोजने वाला तथा विश्वरूपी कत्ता का अध्यापक समझा जाता है । एनी वेसेंट ने सभी धर्मों का पर्याप्त अध्ययन किया था । 'थियोसोफ़ी' नामक पत्र मे ये अपने लेखों द्वारा ज्ञान-वर्षा किया करती थीं । भारतीय स्वराज्य आन्दोलन के पक्ष मे भी उन्होंने वहुत कुछ लिखा । थियोसोफ़ी पर उनकी 'प्राचीन विद्या' नामक पुस्तक पढने योग्य है । 'महासमर की कहानी' मे महाभारत की कथा को उन्होंने इतने सुन्दर ढंग से लिखा है कि भारत की सभी भाषाओं मे उसका अनुवाद हो गया है । भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता का उन्होंने अंग्रेज़ी में अत्यन्त सुन्दर अनुवाद किया । इस अनुवाद की अब तक लाखों प्रतियाँ छप चुकी हैं । भारत-धर्म पर भी उन्होंने एक वहुमान्य पुस्तक लिखी ।

एनी वेसेंट ने भारतीय धर्मों का गहरा अध्ययन किया था । हिन्दू-धर्म पर उनकी वडी भक्ति थी । हिन्दू-धर्म की वहुत-सी गूढ बातो को उन्होंने अपने 'थियोसोफ़िकल-समाज' मे भी ले लिया । इसमे कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-धर्म की छाया ने थियोसोफ़ी (दैवी ज्ञान) के धर्म को भी चमका दिया । वास्तव मे यह धर्म हिन्दू-धर्म का एक भागमात्र है ।

भारत में

एनी वेसेंट ने भारत पर सब से बड़ा उपकार यह किया कि इस देश के निवासियो के हृदयों मे भारतीय धर्म के प्रति आदर का भाव उत्पन्न कराया तथा उनके हृदयों में अपनी सभ्यता के प्रति प्रेम

जागरित किया। उस समय भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर स्कूली लड़के अपने रीति-रिवाज, पहनावे, सभ्यता तथा धर्म से घृणा करके ईसाई धर्म की ओर झुकने लगे थे, किन्तु एनी बेसेंट ने उनकी आँखें खोल दीं। अपने व्याख्यानों और लेखों से इस क्षेत्र में इन्होंने जागृति की लहर फैला दी। भारत-सरकार की नीति की भी इन्होंने कई बार कड़ी आलोचना की। मि० ब्रैडला भी भारत की ओर से पार्लियामेन्ट में बहुत बोलते थे। वे १८८९ ई० में राष्ट्रीय महासभा की बैठक में सम्मिलित होने के लिए भारत में आये थे। इस देश में उनका स्वागत बड़े समारोह से हुआ था।

सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना

थियोसोफ़ी का काम करते समय एनी बेसेंट का ध्यान भारत की दीन अवस्था की ओर खिंचा और भारत में थियोसोफ़ी का प्रचार करने तथा राजनीतिक लड़ाई लड़ने के लिए वह भारत में चली आईं। जब एनी बेसेंट ने देखा कि यहाँ की शिक्षा-प्रणाली बहुत दोषपूर्ण है और उससे विद्यार्थियों पर यूरोपीय सभ्यता का बुरा प्रभाव पड़ रहा है तथा भारतीय सभ्यता और धर्म से उनकी रुचि हट रही है, तब उन्होंने इस लक्ष्य से एक ऐसा स्कूल खोलने का निश्चय किया, जिसमें हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म की शिक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजित करने की शिक्षा भी दी जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने काशी नगर को चुना। काशी हिन्दू-सभ्यता का घर रहा है। इसलिए वहीं पर थियोसोफ़िकल सोसायटी का प्रधान केन्द्र रक्खा गया। इसी उद्देश्य से जुलाई सन् १८९८

मे कर्नल आलकाट आदि की सहायता से एनी बेसेंट ने वहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। यह कालेज आगे चलकर विश्व-विख्यात हिन्दू-विश्व-विद्यालय के रूप मे परिणत हो गया। इसी कालेज मे उन्होंने कन्याओं के लिए भी एक वड़ा अच्छा स्कूल स्थापित किया। थियोसोफिकल समाज की ओर से दक्षिण के मदनपल्ली नगर मे भी थियोसोफ़िकल विद्यालय खोला गया।

थियोसोफिकल समाज की अध्यक्षता

सन् १९०७ में अत्यधिक वोटों से एनी वेसेंट थियोसोफ़िकल समाज की अध्यक्षा चुनी गईं। यह पद परम धार्मिक भी होता है। इस बीच समाज के संगठन तथा प्रचार के लिए ये कितनी ही वार यूरोप, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया गईं। 'संसार मे सब भाई हैं' 'विश्व के सभी देशवासी परस्पर बंधु हैं' 'विश्व-बन्धुत्व' यही थियोसोफ़ी का मूल-मंत्र है। समाज की सभाओं मे और सम्मेलनों मे इस मूल-मन्त्र का श्रीमती एनी वेसेंट वडे उत्साह से प्रचार करती थीं।

श्रीकृष्णमूर्ति

एनी वेसेंट तथा उनके कुछ प्रगाढ़ मित्रों मे आगे चलकर एक विषय पर गहरा मतभेद हो गया। यह विषय कृष्णमूर्ति का था। एनी वेसेंट कृष्णमूर्ति नाम के एक सज्जन को भगवान् के यहाँ से भेजा विश्व-अध्यापक मानती थीं। आपका कहना था कि यह कृष्ण के अवतार हैं।

कृष्णमूर्ति की शिक्षा अत्यधिक उच्च है, और वे एक सुन्दर युवक हैं। उनकी वाणी में मिठास है। इंग्लैण्ड में रहकर इनकी शिक्षा पूरी हुई और वे संसार को आत्मा के प्रेम का और स्वतंत्रता का संदेश दे रहे हैं। यही कृष्णमूर्ति इस समय, श्रीमती बेसेंट के अनुयायी थियोसोफिस्टों के अनुसार जगद्गुरु हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह योग्यता और विद्वत्ता में बहुत बढ़े-चढ़े हैं।

होम-रूल

एनी बेसेंट ने थियोसोफ़ी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए 'कामन-वील' नामक एक अंग्रेज़ी अखबार निकाला, पर कुछ दिनों बाद उसे बंद कर दिया। इसके बाद उन्होंने मद्रास में 'न्यू इंडिया' नामक पत्र निकाला और उसकी सम्पादिका वह स्वयं बनीं। 'न्यू इंडिया' एनी बेसेंट के शब्दों में, भारत के लिए होम-रूल (स्वराज्य) के स्वप्न को सत्य करने की इच्छा से प्रकाशित हुआ था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश-साम्राज्य के अधीन अन्य उपनिवेशों की भाँति भारत में भी स्वराज्य स्थापित करना था।

भारतीय राष्ट्रीय महासभा

कांग्रेस वर्षों से यह माँग उपस्थित कर रही थी कि भारतवासियों को अपने देश पर स्वयं शासन करने का अधिकार मिले। एनी बेसेंट ने कांग्रेस की इस आवाज को अपनी आवाज बना लिया और १९१५ ई० की बम्बई-कांग्रेस में एनी बेसेंट ने स्वराज्य की माँग मंजूर कराई। बम्बई-कांग्रेस के बाद से उन्होंने भारतीय स्वराज्य के लिए

आन्दोलन करना प्रारम्भ किया। देश भर में घूमकर वह भारतीय जनता को यह सन्देश देने लगीं कि सभी भारतवासियों को मिलकर स्वराज्य की माँग पेश करनी चाहिए। और इस विषय पर उन्होंने पुस्तकें भी लिखीं, जो बहुत प्रसिद्ध हुई। कांग्रेस के स्वीकृति न देने पर भी उन्होंने भारतीयों में स्वराज्य के भावों का प्रचार करने के लिए 'होम-रूल-लीग' (स्वराज्य-संघ) नामक संस्था खोल दी। इस आन्दोलन के कारण बम्बई-सरकार ने सन् १९१६ की जुलाई में एनी बेसेंट का बम्बई-प्रवेश निषिद्ध कर दिया और फिर मध्य प्रदेश में भी वहाँ की सरकार ने उनका प्रवेश रोक दिया।

मद्रास के गवर्नर ने उन्हें राजनीतिक आन्दोलन से हाथ खींचने को कहा, किन्तु इन्होंने निर्भीकतापूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप वह गिरफ़्तार करके नज़रबन्द कर दी गई। नज़रबन्दी में उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा। इनकी गिरफ़्तारी से देश में उत्तेजना फैली और आन्दोलन ने बल पकड़ लिया। इसके बाद वह और इनके साथी छोड़ दिये गये। सभी जगह, जहाँ-जहाँ वह गई, उनका अत्यंत प्रतिष्ठापूर्वक स्वागत हुआ। इन्हीं दिनों सरकार ने भारत-मंत्री की यह घोषणा प्रकाशित की कि 'भारत में अंग्रेज़ी राज्य का उद्देश्य स्वराज्य देना है, और भारत-मंत्री यहाँ की अवस्था की जाँच करने स्वयं आयेंगे।'

सन् १९१७ में श्रीमती एनी बेसेंट भारत की सब से बड़ी राजनीतिक संस्था कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गई। इस प्रकार भारत ने इन्हें अपना सब से बड़ा सम्मान देकर गौरवान्वित किया।

माटेगू-सुधारों की श्रीमती एनी बेसेंट ने कड़ी आलोच
की और उन्हें भारत के लिए अपमानजनक बताया। इस सुधार
सभी लोग असन्तुष्ट थे। उस समय कांग्रेस में दो दल हो गये थे—
एक नरम और दूसरा गरम। एनी बेसेंट नरम दल की नेता
थीं। गरम दल वालों से उनका मतभेद रहा। इस प्रकार वे कांग्रे
के कार्यों की कभी प्रशंसक और कभी आलोचक हो जाती थीं।
कुछ दिनों बाद अनेक कारणों से 'न्यू इंडिया' पत्र बन्द हो गया।
कांग्रेस की उग्र नीति से और असहयोग-आन्दोलन से उनका
विरोध रहा। लिबरल दल का उन्होंने अन्त तक साथ दिया। उनके
राजनीतिक विचार चाहे जो कुछ रहे हो, यह निस्संकोच कह
पड़ेगा कि उन्होंने भारत की सेवा के लिए जो प्रयत्न कि
वह भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में अपना विशेष स्थ
रखता है।

श्रीमती एनी बेसेंट ने थियोसोफ़िकल सोसायटी को
विशाल रूप दिया और उसे एक उन्नत सार्वजनीन धर्म बनाया
भारतीय राजनीतिक आन्दोलन की गति को उन्होंने आगे बढ़ा
और भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए सेन्ट्रल हि
कालेज की स्थापना की। ये कार्य ऐसे हैं, जिन्हें भारत कभी न
भूल सकता।

सन् १९३० में ८० वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ
और तब सारे देश में शोक छा गया। वे यूरोपियन थीं, पर उन
हृदय भारतीय था। उनका जीवन भारतीय संस्कृति और धर्म

ओतप्रोत था। श्रमिकों और ग़रीबों के लिए उन्होंने बड़े-बड़े कष्ट झेले और त्याग किये। वे करुणा और निर्भीकता की साक्षात् मूर्ति, विश्व-प्रेम की देवी, दुखियों की पीड़ा से पीड़ित विश्व की महान् विभूति आज भले ही इस संसार मे नहीं हैं, किन्तु उनका आदर्श, उनका नाम और उनके कर्म इस संसार मे अमर रहेगे। संसार की नारी-जाति की वह जगमगाती दिव्य ज्योति थी। उनका जीवन घटनाप्रधान था। उनका साहस, त्याग, कष्टसहिष्णुता, धैर्य, निर्भीकता और उनके धार्मिक तथा राजनीतिक विचार संसार में जीवन के आदर्श के लिए उदाहरण रूप रहेगे।

श्रीमती क्यूरी

वीरांगनाओं और रानियों की कहानियाँ तो आपने बहुत पढ़ी होंगी परन्तु विज्ञान के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने वाली किसी भी स्त्री का नाम न सुना होगा। आज हम ऐसी ही एक विदुषी की कहानी सुनाते हैं, जिसके आविष्कारों ने वैज्ञानिक अनुसंधान में एक क्रान्ति का युग उपस्थित कर दिया है।

मेरी स्क्लोडोस्का का जन्म वार्सा नगर में ७ नवंबर १८६७ को हुआ। उसका पिता एक कालेज में साइन्स का प्रोफ़ेसर था। उसकी माता भी यूनिवर्सिटी में अध्यापिका थी। पर वह नन्हें-नन्हें बच्चों को छोड़कर जवानी में ही मर गई थी। डाक्टर स्क्लोडोस्का को विज्ञान के लिए सच्ची लगन थी और वे पदार्थ-विद्या पढ़ाते हुए परीक्षण और प्रतिपादन पर विशेष ज़ोर दिया करते थे। इस विषय के पुराने ढर्रे के अध्यापकों से, जो पदार्थ-परीक्षण को निरा बच्चों का खेल समझते थे, उनका सर्वदा मतभेद रहता था। उन दिनों रसायन-

शाला की संयोजना मे वहुत थोड़ा धन व्यय किया जाता था। डा० स्क्लोडोस्का को वहुत सी परीक्षण-सामग्री तो अपनी गाँठ से ही खरीदनी पडती थी। पर वे इतने धनाढ्य न थे कि बोतलें धोने और वस्तुओं को यथास्थान रखने के लिए नौकर रख सके। इसलिए जब उनकी लड़की मेरी ने इस झाड़-पोंछ के काम मे उनकी सहायता करनी आरंभ कर दी, तो वे बड़े प्रसन्न हुए। पहले-पहल तो उन्होंने इस सहायता को बाल्य-सुलभ खिलवाड़ ही समझा। पर जब उन्होंने देखा कि बच्ची प्रत्येक रसायन-क्रिया मे भी अनुराग दिखाती है, तो उनके आनन्द की सीमा न रही और उन्होंने उसे विद्यालय मे भेजने से पहले घर मे ही पढाना आरंभ कर दिया।

विद्यालय में प्रविष्ट होने के पीछे भी वह अपने पिता की सहायता करती रही। और जब वह कुछ सयानी हो गई तो पिता के अगले दिन के काम के लिए शाम को ही सब सामग्री की आयोजना कर दिया करती थी। उसका सारा बचपन रसायन-शाला मे ही बीता और अपने पिता की सहायता करने में वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई।

उसकी योग्यता के कारण कालेज के विद्यार्थी उसे नन्ही प्रोफ़ेसर कहा करते थे। उसके पिता जब रात्रि को, दूसरे दिन पढाने वाले पाठ की तैयारी किया करते, तो वह उनके पास बैठ जाती। इस प्रकार उसकी वैज्ञानिक शिक्षा शाम को घर पर और साधारण शिक्षा दिन मे विद्यालय में हो जाती। वह लिखती हैं—'विज्ञान के लिए मेरी रुचि तो आरंभ से थी ही। पर मेरे पिता ने मेरे अंदर वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए विशेष अभिरुचि कूट-कूटकर भर दी थी।'

रसायन-शाला के अन्दर तो परिश्रम था, शान्ति थी, पर बाहर जनता के हृदय मे विद्रोह की अग्नि जल रही थी। उत्तरीय पोलैंड रूस के अधीन था। वार्सा पोलिश संस्कृति का बड़ा भारी केन्द्र था। रूस इस संस्कृति का सर्वथा नाश करना चाहता था। वहाँ पोलिश भाषा का पढ़ाना निषिद्ध था। जातीय नृत्य गीतादि सभी बंद करा दिये गये थे। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक पोलैंड-वासी के हृदय मे देश-भक्ति की ज्वाला धधक उठी। लोग पोलिश भाषा का पहले से भी अधिक अध्ययन करने लगे। बच्चे ऊपर रूसी पुस्तक रखकर नीचे पोलिश पुस्तक छिपा लेते और इस तरह अपनी भाषा सीखने लगे। इस अपराध का दण्ड देश-निकाला था। अपराधी को साइबेरिया के मरुस्थल मे निर्वासित कर दिया जाता था। पर सभी लोग इस दंड का स्वागत करने के लिए तत्पर रहते थे। अपने पिता और उसके मित्रों और छात्रो की बाते सुनकर मेरी के हृदय मे भी देश-भक्ति की तरंग जागरित हुई। राजकीय गुप्तचरों को इस रहस्य का पता चल गया और बेचारी को वैज्ञानिक अध्ययन के लिए वार्सा छोडकर दक्षिण के क्रेको नगर मे जाना पडा।

कुछ काल पीछे रूस मे उसने बच्चो को पढाने के लिए एक रूसी के घर नौकरी कर ली। नौकरी क्या की, मानो बाघ के मुख में सिर दे दिया। उसे अब ज्ञात हुआ कि पोलैंड-निवासियों पर रूसी कितना अत्याचार करते हैं। एक रात को वह बुढिया का वेश धारण करके उस घर से भाग निकली और पेरिस में जाकर अपनी आजीविका का सहारा ढूँढने लगी।

उस समय उसकी आयु बीस वर्ष से कुछ ही अधिक होगी। न पास पैसा, न कोई मित्र, न बन्धु। अकेली ही अपनी बुद्धि पर भरोसा किये विदेश मे जा पहुँची और नगर के पूर्व की ओर एक मकान में चौथी छत पर एक छोटा-सा कमरा किराये पर ले लिया। इतनी ऊँचाई पर ईंधन आदि स्वयं उठाकर ले जाती। प्रतिदिन उसका व्यय केवल एक फ्रॉंक होता था, जो वह घरों में बच्चों को पढ़ाकर अथवा सोर्बोन रसायन-शाला मे बोतले धोकर, भट्टी झोंककर और रसायन-सामग्री तय्यार करके बड़ी कठिनता से कमाया करती थी। वहाँ उसकी कार्यकुशलता और प्रतिभा को देखकर दो बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति चकित रह गये। उनमें से एक था पदार्थ-विद्या-विभाग का मुखिया गेब्रियल लिपमन, जो अपनी रंगदार फ़ोटोग्राफी के कारण जगद्-विख्यात है, और दूसरा था प्रसिद्ध गणितवेत्ता हेनरी प्वाइन्केर।

उन्होंने इस लड़की की राम-कहानी सुनी और वार्सा में उसके पिता को लिखा। इस लिखा-पढ़ी से मेरी की पढ़ाई का प्रबन्ध हो गया और वह पदार्थ-विद्या में डिग्री प्राप्त करने की चेष्टा करने लगी। तीन साल के अनथक परिश्रम के पश्चात् वह गणितशास्त्र तथा पदार्थ-विज्ञान (लाइसेंश्येट इन मैथेमेटिक्स एण्ड फ़िज़िक्स) की परीक्षा में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उत्तीर्ण हो गई।

सन् १८९४ ई० के वसन्त ऋतु मे पिअरे क्यूरी नाम के एक नवयुवक से मेरी की भेंट हुई। क्यूरी की आयु ३५ वर्ष की थी। वह डाक्टर था और अधिकतर ग़रीब देहातियों की सेवा-शुश्रूषा में लगा रहता था। आय कोई अधिक न थी और घर-गृहस्थी का निर्वाह बड़ी

कठिनता से होता था। पिता को प्राकृतिक इतिहास के पढ़ने की बहुत रुचि थी। इसलिए उसने अपने दोनों बेटों को वनस्पति-शास्त्र और जीव-शास्त्र की शिक्षा बचपन मे ही दे डाली। पिअरे को उन विद्याओं से, जिनका जीवन मे कोई लाभ न दिखाई पड़ता हो, विशेष प्रेम न था। वह स्थूल तथ्यों का आदर करता था और अपने निजी अनुभव से उनका ज्ञान प्राप्त करना चाहता था। इसी लिए गणित विद्या में उसकी रुचि स्वाभाविक थी। पिता ने उसे पढ़ाने के लिए एक शिक्षक रख दिया, जिसकी सहायता से उसने अध्ययन मे इतनी उन्नति की कि उन्नीस वर्ष की आयु मे ही वह पेरिस यूनिवर्सिटी के विज्ञान-विभाग की प्रयोग-शाला मे सहायक के पद पर नियुक्त हो गया। यहाँ उसने अपनी योग्यता, सहानुभूति और सज्जनता से अपने शिष्यों को अपना भक्त बना लिया।

इस प्रकार काम मे लगे हुए और शिष्य-मंडली तथा कुटुम्ब का पालन करते हुए पिअरे को कई वर्ष व्यतीत हो गये। उसके मन मे कोई बड़ी सांसारिक लालसाएँ न थीं। हाँ, कभी कभी उसे ध्यान आता कि यदि उसे कोई ऐसी जीवन-सङ्गिनी मिल जाय, जो न केवल उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी हो, वरन् उसके कार्य मे उसका हाथ भी बटा सके, तो वह अपने जीवन को कृतार्थ समझेगा। और सच-मुच ऐसा ही हुआ। उसकी मेरी से भेंट हुई। दोनों में कई एक गुण समान थे। दोनों ही ग़रीब थे। दोनों ही काम से प्रेम और आलस्य से घृणा करते थे। दोनों ही को संसार में विज्ञान से अधिक अन्य कोई वस्तु प्रिय न थी। दोनों परिश्रमी, चिन्तनशील और एकाग्रचित्त

थे। दोनों का जीवन सादा था, कोई व्यसन न था और दोनों ही प्राकृतिक सौन्दर्य और कला-कलाप की परख रखते थे। इसलिए उनमे एक दूसरे के लिए नैसर्गिक सहानुभूति हो गई। शीघ्र ही लिपमन ने मेरी को पिअरे क्यूरी की शिष्या बना दिया और वे दोनों साथ-साथ काम करने लगे।

अभी इस साहचर्य के कुछ मास ही बीते होंगे कि पिअरे ने मेरी को लिखा—'क्या ही अच्छा हो, यदि हम दोनों जीवन-संगी बनकर विज्ञान और मानव-जाति के उपकार में लग जायँ!' मेरी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और सन् १८९५ में उन दोनों का विवाह हो गया। इसी वर्ष रौंटजेन (Rontgen) ने एक्सरे का आविष्कार किया था।

यद्यपि उन दोनों की आय मिलाकर भी बहुत अधिक न थी तथापि जोड़-जाड़कर उन्होंने किसी न किसी प्रकार से एक छोटी-सी गृहस्थी बना ली। उनको इससे अधिक की इच्छा भी न थी। क्योंकि उनका वास्तविक जीवन तो रसायन-शाला में ही व्यतीत होना था। विवाह के पहले दिन से ही वे एक दूसरे के कार्य मे सहयोग देने लगे थे। इस प्रकार मेरी की वैज्ञानिक शिक्षा जारी रही और उसने गणित और पदार्थ-विद्याओं में प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये।

सन् १८९६ में बेकरल ने इस बात का आविष्कार किया कि यूरेनियम धातु मे भी एक प्रकार की रश्मियाँ निकलती हैं, जो एक्स-रे की भाँति स्थूल पदार्थों के पार हो जाती हैं। इस आविष्कार से दोनों पति-पत्नी बड़े प्रभावित हुए और श्रीमती क्यूरी ने इन

विषय मे पूरा अन्वेषण करने का निश्चय कर लिया। अनेक सूक्ष्म विश्लेषण करने के पश्चात् उन्हे ज्ञात हुआ कि जिस खान से पिच-ब्लेंड प्राप्त किया जाता है, उसके पत्थर मे एक और नया तत्त्व विद्यमान है। श्रीमती क्यूरी ने अपने देश के नाम पर उस तत्त्व का नाम पोलोनियम (Polonium) रख दिया। अधिक अन्वेषण करते-करते उन्हें एक और पदार्थ मिल गया, जिसने वैज्ञानिक-जगत् मे हलचल मचा दी। आठ टन खनिज द्रव्य मे से उस पदार्थ का केवल आधा चमचा प्राप्त हुआ। इस पदार्थ की रश्मि-वेधन-शक्ति (Radio-activity) यूरेनियम से लाखों गुना अधिक थी। इसका नाम उन्होंने रेडियम रक्खा।

यह आविष्कार अनथक परिश्रम और तपस्या का फल था। महीनों के निरंतर परिश्रम के पश्चात् रेडियम की यह थोड़ी-सी मात्रा ही उन्हें मिली थी। अब उन्हें अपने काम को प्रचलित रखने के लिए रसायन-शाला की आवश्यकता पडी। सोर्बोन (Sorbonne) रसायन-शाला मे लकडी का एक टूटा-फूटा हाल फ़ालतू पड़ा था। छत चूती और दीवारों मे से वायु छनती थी। उस जीर्ण कमरे के अदर, जहाँ सदा धूल उड़ती रहती थी, उन बेचारों के लिए काम करना बहुत ही कठिन था।

दूसरी वस्तु, जिसकी उन्हे आवश्यकता थी, वह थी पिच-ब्लेंड। यह बहुत महँगी थी। उनकी सामर्थ्य नहीं थी कि वे उसे ख़रीद सकें। सौभाग्य से यह समस्या शीघ्र ही हल हो गई। वियाना की एकेडमी ऑफ़् साइंस ने ऑस्ट्रिया की एक खान से यूरेनियम निकाल लिया

था और कई टन पिच-ब्लेंड बच रहा था। एकेडमी ने वह सारा का सारा उन्हें भेंट कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी प्रकार की भी आर्थिक सहायता या सहयोग न मिला। दो साल तक वे दोनों निरन्तर परिश्रम करते रहे और रेडियम का क्षार बनाने तथा उसके गुणों की खोज में लगे रहे। पति-पत्नी दोनों ने अपना जीवन अपने कर्तव्य के समर्पण कर रक्खा था और प्रत्येक कार्य में एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते थे। क्या घर, क्या रसायन-शाला और क्या सिद्धान्त-निरूपण; कहीं भी वे एक दूसरे से पृथक् न होते थे। उस समय के विषय में श्रीमती क्यूरी लिखती हैं :—

'ग्यारह वर्ष के सहवास में हम एक दूसरे से क्षण भर भी पृथक् नहीं हुए। यहाँ तक कि इतने लम्बे समय में परस्पर पत्र-व्यवहार की थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही मिलेंगी।' बड़े घोर परिश्रम के उपरांत १९०२ में श्रीमती क्यूरी ने शुद्ध रेडियम क्लोराइड की एक अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा (डेसीग्राम) तैयार कर ली। इस मात्रा से उसने शुद्ध रेडियम के परमाणु-भार (Atomic weight) का निर्णय करके निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि रेडियम भी एक नया मूल तत्त्व है। उसने इस विषय पर एक बड़ा विस्तृत लेख लिखकर पेरिस यूनिवर्सिटी को भेजा, जहाँ से उसे डाक्टर ऑफ़ साइंस की उपाधि मिली।

इस लेख के प्रकाशित होते ही श्रीमती क्यूरी कीर्ति के शिखर पर चढ़ गई। परन्तु यह कीर्ति दंपती के काम और घर की शान्ति में बहुत बाधक होती रही। इसलिए वे रिपोर्टरों और फ़ोटोग्राफ़रों को मिलने से इन्कार कर देते और यथाशक्ति प्रय

करते कि उनके नाम का ढिंडोरा न पीटा जा सके।

अन्त मे सन १६१० मे श्रीमती क्यूरी रेडियम को शुद्ध धातुरूप में पृथक् करने में सफल हो गई। रेडियम की रश्मियों की तीव्रता और वेधन-शक्ति उसके अपने काल्पनिक अनुमान से भी कहीं अधिक निकली। जिस शीशे की नाली मे रेडियम रक्खा हुआ था, उसके बाहर भी यदि कोई वस्तु पास लाई जाती, तो उस पर उसका प्रभाव हुए बिना न रहता। जीव-जन्तुओं के लोम, त्वचा और दृष्टि तक का नाश हो जाता और अन्त मे वे मर जाते। रेडियम के इस श्वेत से चूर्ण को हाथ लगाने से कई एक अन्वेषकों के हाथों पर बड़े कष्टदायक व्रण हो गये। पिअरे क्यूरी ने कुछ देर के लिए अपनी बाँह को इसकी किरणों के सामने कर दिया तो वह इतनी जल गई कि उसे ठीक होने मे महीनों लग गये। रेडियम की नलिकाएँ पकडते-पकड़ते उसके हाथों मे जडता आने लगी। एक बार बेकरल महोदय रेडियम ब्रोमाइड की एक छोटी-सी पुड़िया अपनी वासकट की जेब मे रख बैठे। कुछ घंटों के अन्दर ही कपड़ा जलकर उनकी छाती बुरी तरह झुलस गई। श्रीमती क्यूरी ने एक बार कहा था—'जिस कमरे में एक किलोग्राम भर रेडियम पड़ा हो, वह चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, उसमे प्रवेश करने से मनुष्य तत्काल ही मर जायगा क्योंकि उसकी किरणों की तीव्रता से आँखें अंधी हो जायँगी, कपड़े जल जायँगे और शरीर का रोम रोम झुलस जायगा।' रेडियम इतना भयानक होते हुए भी अपने अन्दर संजीवनी शक्ति रखता है। कई असाध्य रोगों की चिकित्सा में वह सफल हुआ है।

था और कई टन पिच-ब्लेंड बच रहा था। एकेडमी ने वह सारा का सारा उन्हें भेंट कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी प्रकार की भी आर्थिक सहायता या सहयोग न मिला। दो साल तक वे दोनों निरन्तर परिश्रम करते रहे और रेडियम का क्षार बनाने तथा उसके गुणों की खोज में लगे रहे। पति-पत्नी दोनों ने अपना जीवन अपने कर्तव्य के समर्पण कर रक्खा था और प्रत्येक कार्य में एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते थे। क्या घर, क्या रसायन-शाला और क्या सिद्धान्त-निरूपण, कहीं भी वे एक दूसरे से पृथक् न होते थे। उस समय के विषय में श्रीमती क्यूरी लिखती हैं :—

'ग्यारह वर्ष के सहवास में हम एक दूसरे से क्षण भर भी पृथक् नहीं हुए। यहाँ तक कि इतने लम्बे समय में परस्पर पत्र-व्यवहार की थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही मिलेंगी।' बड़े घोर परिश्रम के उपरांत १९०२ में श्रीमती क्यूरी ने शुद्ध रेडियम क्लोराइड की एक अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा (डेसीग्राम) तैयार कर ली। इस मात्रा से उसने शुद्ध रेडियम के परमाणु-भार (Atomic weight) का निर्णय करके निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि रेडियम भी एक नया मूल तत्त्व है। उसने इस विषय पर एक बड़ा विस्तृत लेख लिखकर पेरिस यूनिवर्सिटी को भेजा, जहाँ से उसे डाक्टर ऑफ साइंस की उपाधि मिली।

उस लेख के प्रकाशित होते ही श्रीमती क्यूरी कीर्ति के शिखर पर चढ़ गई। परन्तु यह कीर्ति दंपती के काम और घर की शान्ति में बहुत बाधक होती रही। इसलिए वे रिपोर्टरों और फ़ोटोग्राफ़रों को मिलने से इन्कार कर देते और यथाशक्ति प्रयत्न

करते कि उनके नाम का ढिंडोरा न पीटा जा सके।

अन्त मे सन् १९१० मे श्रीमती क्यूरी रेडियम को शु-धातुरूप मे पृथक् करने मे सफल हो गई। रेडियम की रश्मियों की तीव्रता और वेधन-शक्ति उसके अपने काल्पनिक अनुमान से भी कहीं अधिक निकली। जिस शीशे की नाली मे रेडियम रक्खा हुआ था, उसके बाहर भी यदि कोई वस्तु पास लाई जाती, तो उस पर उसका प्रभाव हुए बिना न रहता। जीव-जन्तुओ के लोम, त्वचा और दृष्टि तक का नाश हो जाता और अन्त मे वे मर जाते। रेडियम के इस श्वेत से चूर्ण को हाथ लगाने से कई एक अन्वेषकों के हाथों पर बड़े कष्टदायक व्रण हो गये। पिअरे क्यूरी ने कुछ देर के लि अपनी बॉह को इसकी किरणों के सामने कर दिया तो वह ऐ जल गई कि उसे ठीक होने मे महीनों लग गये। रेडियम नलिकाएँ पकड़ते-पकडते उसके हाथों मे जडता आने लगी। एक बार बेकरल महोदय रेडियम ब्रोमाइड की एक छोटी-सी पुड़िया अपनी वासकट की जेब मे रख बैठे। कुछ घंटों के अन्दर ही कपडा जलकर उनकी छाती बुरी तरह झुलस गई। श्रीमती क्यूरी ने एक बार कहा था—'जिस कमरे मे एक किलोग्राम भर रेडियम पड़ा हो, वह चाहे कितना भी बडा क्यों न हो, उसमे प्रवेश करने से मनुष्य तत्काल ही मर जायगा क्योंकि उसकी किरणो की तीव्रता से आँखें अंधी हो जायँगी, कपड़े जल जायँगे और शरीर का रोम रोम झुलस जायगा।' रेडियम इतना भयानक होते हुए भी अपने अन्दर संजीवनी शक्ति रखता है। कई असाध्य रोगों की चिकित्सा में यह सफल हुआ है।

सन् १९०३ में क्यूरी-दंपती के उद्योग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा हुई और हर ओर से उन पर मान और प्रतिष्ठा की वर्षा होने लगी। रॉयल एकेडमी के आग्रह पर ये दोनों लंदन पहुँचे। वहाँ इनका बड़ा भारी सत्कार किया गया और रॉयल सोसाइटी की ओर से दोनों को साँझा डेवी मेडल (Davy Medal) प्रदान किया गया। उस वर्ष का पदार्थ-विद्या का नोबेल प्राइज भी इन दोनों और बेकरल महोदय के बीच आधा-आधा बाँट दिया गया। वह प्राइज़ ८००० पौंड का होता है और सम्मान की पराकाष्ठा का सूचक है। इससे उनकी आर्थिक चिन्ता भी दूर हो गई। अगले वर्ष फ्रेंच चेम्बर ऑफ डेपुटीज़ ने 'पिअरे क्यूरी' के निमित्त पदार्थ-विद्या की एक गद्दी स्थापित करने के लिए १८,७०० फ्रॉक पृथक् निर्धारित करने का प्रस्ताव पास किया। परन्तु श्रीमती क्यूरी को बुरे दिन अभी देखने थे। सन् १९०६ में एक दिन विज्ञान के अध्यापकों की समिति ने पिअरे क्यूरी को भोजन का निमन्त्रण दिया। वहाँ वह अपनी मित्र-मंडली में प्रसन्नचित्त बैठा था। उन्हीं दिनों उससे छात्रों को पढ़ाने का काम छुड़वा दिया गया था। और वह अपना सारा समय वैज्ञानिक अन्वेषण में लगाने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र हो गया था। आशाओं से भरा हुआ वह मन में भविष्य के लिए कई प्रकार की योजनाएँ जोड़ रहा था। अन्त में मित्रों से विदा लेकर चला, पर न वह घर पहुँचा और न ही रसायन-शाला में। मार्ग में भीड़ थी। भीड़ को लाँघते हुए उसका पाँव फिसल गया और वह एक भारी छकड़े के नीचे दबकर वहीं मर गया। इस दुर्घटना को सुनकर श्रीमती क्यूरी के हृदय पर बड़ा भारी आघात पहुँचा और उसकी दशा अत्यन्त

शोचनीय हो गई। ऐसा प्रतीत होता था कि या तो वह पागल हो जायगी या मर जायगी। परन्तु घर मे नन्ही-नन्ही बच्चियों की मधुर आवाज़ सुन-सुनकर श्रीमती क्यूरी को कुछ सात्वना हो आई और वह जीवन का भार उठाने के लिए समर्थ हो गई। समय सब दुःख भुला देता है। शनैः शनैः उसका भी दुःख कम होता गया और अन्त मे उस कार्य को, जिसके लिए पति-पत्नी ने अपना जीवन अर्पण कर रक्खा था, जारी रखने के लिए वह रसायन-शाला में आकर फिर से परिश्रम करने लगी। अपने पति के पद पर वह आनरेरी प्रोफेसर नियुक्त कर दी गई और उसका अपना शिष्य और सखा डेबर्न (Debierne) उसका सहकारी बना दिया गया। वह पहले से भी अधिक दत्तचित्त होकर अन्वेषण मे लग गई, क्योंकि अब यह कार्य उसके लिए केवल विज्ञान की निष्काम सेवा ही न था, वरन् अपने स्वर्गीय स्वामी के उद्योग का अत्युत्तम स्मारक भी था। उसका जीवन एक सती-साध्वी स्त्री का आदर्श जीवन है।

श्रीमती क्यूरी लेखिका भी उच्चकोटि की थीं। राष्ट्रीय उद्योग-समिति ने उसकी पहली वैज्ञानिक पुस्तक प्रकाशित की। सन् १९१० मे जब उसने रेडियम को शुद्धरूप में पृथक् करके उसका परमाणु-भार निश्चित किया तो उसने रश्मि-वेधन-शक्ति (Radio activity) पर भी १००० पृष्ठ की एक अद्वितीय पुस्तक लिखी। सन् १९११ मे रसायन-विद्या का नोबेल प्राइज़ फिर उसे ही दिया गया। ऐसा मान संसार में आज तक किसी अन्य व्यक्ति को प्राप्त नहीं हो सका था, क्योंकि नोबेल प्राइज़ दो बार किसी भी व्यक्ति को कभी नहीं मिला।

यूरोप के घोर युद्ध आरंभ होने के थोड़े ही समय बाद पेरिस मे रेडियम संस्था खोली गई और श्रीमती क्यूरी को उसकी अध्यक्षा बना दिया गया। इस संकट के समय फ्रेंच सरकार ने उसे रेडियम के विषय पर एकमात्र प्रामाणिक व्यक्ति समझकर अपने सैनिक-चिकित्सालयों मे रश्मि-वेधन-शास्त्र का सारा काम उसी के अधीन कर दिया।

पेरिस यूनिवर्सिटी की रेडियम संस्था मे दो रसायन-शालाएँ हैं। एक का नाम क्यूरी रसायन-शाला है, जिसमे रसायन और पदार्थ-विद्या का अनुसंधान-कार्य होता है। दूसरी पास्च्योर रसायन-शाला है, जो केवल रश्मि-वेधन-शक्ति के चिकित्सासंबंधी प्रयोग ढूँढने के लिए ही व्यवस्थित है। इस दूसरी रसायन-शाला मे सब से महान् कार्य तो नासूर फोड़े (Cancer) की चिकित्सा के विषय मे हुआ है। पंद्रह वर्ष के लगातार परिश्रम के बाद यह सिद्ध हो गया है कि इस रोग मे शल्य-चिकित्सा की अपेक्षा रेडियम-चिकित्सा कहीं अधिक गुणकारी है। दिनों-दिन इस चिकित्सा में उन्नति हो रही है।

श्रीमती क्यूरी ने महायुद्ध में जो अनुपम काम किया, उसके विषय मे भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। युद्ध के आरम्भ में रश्मि-वेधन-चिकित्सा विभाग के पास केवल थोड़ी-सी कारें (Cars) थीं, जिन पर रखकर रश्मि-वेधन-उपकरण रणभूमि में पहुँचाये जाते थे। और कतिपय ही चिकित्सालय ऐसे थे, जिनमें ये उपकरण स्थिर रूप मे विद्यमान थे। आहत सैनिकों पर रश्मि-वेधन-चिकित्सा की उपयोगिता का तब तक इतना ज्ञान नहीं था, जितना

आज कल है। फिर भी श्रीमती क्यूरी को इसमें पूरी श्रद्धा थी और उसने इस कमी को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया। उसने कई स्थानों से रश्मि-वेधन-उपकरण इकट्ठे कर लिये और जनता से कारें माँग-माँगकर इस चिकित्सा के कोई बीस जंगम केन्द्र स्थापित कर दिये। बहुधा, उसे स्वयं रणक्षेत्र में जाकर वहाँ का समाचार जानना पड़ता और जहाँ भी आवश्यकता होती, वहीं वह चिकित्सा-उपकरण ले जाती और चलाने वालों को चलाने का ढंग स्वयं सिखाती। सिद्धहस्त यन्त्र-संचालक पैदा करने के लिए उसने एक शिक्षणालय खोल दिया, जिसमें सीखे हुए विद्यार्थियों ने चिकित्सालयों में और डाक्टरों को सहायता पहुँचाने में बहुत संतोषजनक काम किया।

युद्ध के पश्चात् पेरिस की रेडियम संस्था में बहुत-सी नवीनता आ गई। परिचित और अपरिचित मित्र श्रीमती क्यूरी को उसके काम में आने वाली धातुओं के नमूने भेजते रहते। उसने लिखा है—'अमेरिका में एक बार जब मैं वाशिंगटन में एक रसायन-शाला की स्थापना करने में सहायता दे रही थी, मुझे एक अद्भुत खनिज पदार्थ का नमूना भेंट किया गया। मैं बहुत थकी हुई थी किंतु अमेरिकन मित्रों ने मुझे बताया कि थकी हुई होने पर भी उस खनिज को देखकर मेरे मुख पर आशा की मुद्रा झलकने लगी और उत्सव के अन्त तक मैं उसी की ओर देखती रही।'

सुना जाता है कि वैधव्य के थोड़े ही काल बाद उसे [illegible] में व्याख्यान देने का अवसर मिला। उस व्याख्यान के अवसर फ्राँस का प्रेज़ीडेंट, पुर्तगाल का राजा, लार्ड केल्विन, सर इन्न्य

बताया गया है कि हमारे पूर्वज प्राचीन आर्य गृह-स्थायी (Stay at-home) थे। धार्मिक बन्धन उन्हें बाहर निकलने से रोकते थे। भौगोलिक परिस्थिति भी विदेश-यात्रा के अनुकूल न थी। इधर शास्त्रों की आज्ञा, उधर प्रकृति देवी की प्रतिकूलता। एक ओर आकाश से बातें करने वाली, कभी न समाप्त होने वाली, बर्फ से ढकी हुई अनुल्लंघनीय पर्वतमालाएँ, और हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए दुर्गम वन, और दूसरी ओर अनन्त अगाध श्यामवर्ण जलराशि और जहाजरानी के सर्वथा अनुपयुक्त समुद्र-तट, घर में नव-निधियों और अष्ट-सिद्धियों की अठखेलियाँ, सुखोपभोग के साधनों की प्रचुरता और प्रकृति का असीम अनुग्रह ! फिर ऐसी दशा में विदेश जाकर कौन अपने धर्म और प्राणों को संकट में डाले ? रत्न-प्रसू, निखिल-रस-निर्भरा, शस्यश्यामला भारत-वसुन्धरा में जन्म लेकर कौन-सा प्रलोभन रह जाता है, जिसकी प्रेरणा से कोई विदेश जाने को उत्सुक हो ! इन्हीं कारणों से आर्य लोग गृह-स्थायी रहे। आलस्य और प्रमाद ने उनकी कर्मण्यता को नष्ट कर दिया और कुएँ के मेंढक की तरह वे प्रगतिशील संसार से विमुख होकर अपनी अधोगति में ही सन्तुष्ट रहे।

नवभारत के इतिहास पर नया प्रकाश

ऐसे निराशाजनक भाव ही इतिहासकारों ने बचपन से हमारे सामने रक्खे हैं। इन्हीं विचारों से अभिभूत होकर हम अपने आदर्शों को ढूँढने के लिए यूरोप की ओर खिंचे जा रहे हैं। परन्तु उद्बोधन के इस युग में हमारे प्राचीन इतिहास पर एक नया प्रकाश पड़ा है।

अनेक विद्वानों की खोज से यह सिद्ध हो गया है कि ऊपर लिखे सब विचार भ्रान्ति-मूलक थे, यह सब अँधेरे की भावनाएँ थीं। आज हमारा ऐतिहासिक क्षितिज बहुत विस्तृत हो गया है। अतीत के रंगमंच पर से परदा कुछ ऊपर उठ गया है। हमें दूर पर एक सुन्दर, आकर्षक दृश्य दिखाई देने लगा है। हिन्द-महासागर की कृष्ण जलराशि से परे सुदूर पूर्व मे हमे एक नवभारत की सृष्टि का, एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य के अद्भुत विकास का ज्ञान प्राप्त हुआ है। प्राचीन आर्यों का औपनिवेशिक प्रसार हमारे ऐतिहासिक अन्तरिक्ष पर निराली छटा दिखलाने लगा है।

विशाल भारत का मुकुट-मणि

विश्रुति के उस दूरवर्ती युग मे, जिसे हम भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल कहते हैं, भारतवर्ष एशिया की संस्कृति का पथ-प्रदर्शक था। भारतीय सभ्यता जीवन से उमड रही थी। भारतीय विश्व-विद्यालयों के आचार्य संसार के गुरु माने जाते थे। हमारी कर्मण्यता विचार-स्वप्न की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। इस समुज्ज्वल युग में हमारी संस्कृति ने एक ज़बरदस्त बाढ़ की भाँति आस-पास के अनेक देशों मे प्रवेश किया और उनके गहन अरण्य-प्रदेशो को आक्रान्त और आप्लावित करके वहाँ की असभ्य जंगली जातियों को आर्य-सभ्यता में दीक्षित किया। इस विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य का मुकुट-मणि काम्बोज का शक्तिशाली आर्य उपनिवेश था। इस महान् उपनिवेश की संस्थापना का श्रेय नागराज-कन्या सोमा को प्राप्त हुआ।

चाम और खमेर

जिस तरह भारत मे गंगा की उर्वरा वादी पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सब आक्रमणकारी उत्सुक रहे हैं, उसी तरह इन्दो-चीन मे मेकाग के डेल्टा की आनन्द-निष्यन्दिनी भूमि—जहाँ कृषि, मत्स्य-जीविता और शिकार जीवन के अपरिमेय साधनों को उपस्थित करते हैं—अनेक पुरानी जातियों के संघर्ष का क्रीडास्थल रही है। मन्द, विस्तीर्ण, धान के खेतों की चिकनी मिट्टी को चर कर निरन्तर पङ्किल रहने वाला महानद मेकांग काम्बोज के एक वड़े भारी मैदान को उपजाऊ बनाता है। मेकांग ही काम्बोज की आर्थिक समृद्धि का स्रोत है। यह महानद ही इस देश का एकमात्र जलमार्ग है। इसकी उपत्यका मे पहले-पहल चाम जाति का प्रभुत्व था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ से कुछ समय पूर्व वीरमान प्रदेश से खमेर जाति ने इस देश पर आक्रमण किया। उन्होंने चामों को उत्तर की ओर धकेलकर यहाँ एक नये राज्य का संगठन किया। खमेर जाति का राजा नागवंशीय था।

कौण्डिन्य का आगमन

ई० सन की पहली सदी के आरम्भ मे आर्यावर्त के उत्तर पूर्व प्रदेश मे एक शक्तिशाली ब्राह्मण-वंश का राज्य था। घरेलू कलह के कारण ब्राह्मण राजा ने अपने पुत्र राजकुमार कौण्डिन्य को देश से निकाल दिया। प्रवासित राजकुमार कुछ साथियों के साथ स्वदेश को त्यागकर चल पडा। उसे यह समझ में न आता था कि वह

किस ओर प्रस्थान करे। अनिश्चय और नैराश्य के कारण किंकर्तव्य-विमूढ़ यह राजकुमार कुछ समय तक इधर-उधर भटकता रहा। एक दिन प्रभात के समय वह एक वृक्ष के नीचे सोया हुआ था कि उसने एक अद्भुत स्वप्न देखा। भगवान् पिनाकी उसके सामने खड़े हैं और इन शब्दों से उसको प्रोत्साहन दे रहे हैं—'तेजस्वी राजकुमार! उठो, निराशा को छोड़कर कर्मण्यता का आश्रय लो। देव-मन्दिर में मेरा धनुष और द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा का भाला पड़ा है। यह शस्त्र तुम्हें सदा विजयी बनावेंगे। उठो, समुद्र-यात्रा करो और पूर्व में जाकर नये भारत की सृष्टि कर यशस्वी बनो। वहाँ तुम ऐसे विशाल साम्राज्य के स्वामी बनोगे, जिसके सामने तुम्हारे पिता का राज्य तुच्छ प्रतीत होगा।'

यह कहकर महेश अन्तर्धान हो गये और चकित राजकुमार ने आँखें खोलीं। वह हर्ष और उल्लास से कूद पड़ा और निकट के देव-मन्दिर की ओर दौड़ा। वहाँ उसे एक वृक्ष के नीचे दिव्य धनुष और एक भाला प्राप्त हुए। अब उसे दैव-वाणी की सत्यता पर पूर्ण विश्वास हो गया। अपने मित्रों के साथ वह एक जहाज़ में बैठकर भारत से विदा हुआ। बहुत लम्बी और भयावह समुद्र-यात्रा के बाद वह ख़मेर-राज्य में पहुँचा। उन दिनों लम्बी समुद्र-यात्रा भारत-वासियों के लिए कोई नई बात न थी। भारतीय व्यापारी अपने जहाजों में पश्चिम में मिश्रदेश तक और पूर्व में स्वर्ण-भूमि, जावा, सुमातरा आदि द्वीप-समूह तक आते जाते रहते थे। परन्तु स्याम की खाड़ी के पूर्वीय प्रदेश तक भारतीय जहाज़ अब पहली ही बार आया था।

रानी लिएऊ-ये

हम ऊपर कह आये हैं कि मेकांग की घाटी पर उस समय खमेर-जाति का प्रभुत्व था और उसके शासक नागवंश के थे। राजकुमार कौण्डिन्य का जहाज इसी देश के समुद्र-तट पर आ लगा। उस सलिल-निर्भरा भूमि के रमणीय दृश्य और प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर राजकुमार ने वहाँ लंगर डाल दिया। उस समय खमेर देश पर एक युवती रानी राज करती थी, जिसका नाम चीनी इतिहासकारों ने लिएऊ-ये लिखा है। नागराज-कन्या और उसकी प्रजा नंगे रहते थे। वे शस्त्रविद्या में बड़े प्रवीण थे, परन्तु थे बिलकुल असभ्य।

नागराज-कन्या से युद्ध

जब नागराज-कन्या को राजकुमार कौण्डिन्य के आने का समाचार मिला तो उसने इस आगन्तुक का प्रतिरोध करना चाहा। उसने अपनी सेना इकट्ठी की और किश्तियों में सवार होकर युद्ध के लिए आ डटी। बहुत समय तक युद्ध होता रहा। कौण्डिन्य के साथी संख्या में बहुत थोड़े थे, परन्तु उनका जहाज़ बड़ा और सुरक्षित था। कौण्डिन्य का धनुष भी बहुत दूर तक मार कर सकता था। उसका एक तीर रानी के जहाज़ में जा लगा, जिससे उसकी सेना में घबराहट पैदा हो गई। परन्तु नागराज-कन्या एक वीर महिला थी। वह बराबर युद्ध करती रही। इसी अवसर पर समुद्र में एक भारी तूफ़ान आया और तब दोनों विरोधी दल परस्पर

संघर्ष छोड़कर प्रकृति से युद्ध करने लगे। तीन घंटे के तूफ़ान के बाद उस युद्ध-स्थल का दृश्य बिलकुल अजीब बन गया था। न वहाँ जहाज थे, न जहाज़ों के प्रभु।

प्रथम मिलन

तूफ़ान के कुछ शान्त होने पर राजकुमार समुद्र के रेतीले तट पर अर्ध-चेतन अवस्था मे पड़ा था कि उसे कुछ स्त्रियों के रोने-चिल्लाने का शब्द सुनाई पड़ा। उसने देखा कि निकट ही एक किश्ती डूब रही है। वह समुद्र मे कूद पडा और डूबती हुई एक बेहोश स्त्री को पकड़कर बाहर ले आया।

इस समय तक समुद्र शान्त हो चुका था। आकाश मे चन्द्र-देव मुसकराते हुए तूफ़ान से दु:खित प्राणिवर्ग पर अमृत-वर्षा कर रहे थे। राजकुमार ने बेसुध अबला को समुद्र-तट की रेत पर लिटा दिया। अहो! कैसा अनुपम सुन्दर रूप था! जिस नारी को उसने डूबने से बचाया था, वह सचमुच स्वर्गीय लावण्य की मूर्ति थी। उसके शरीर पर वस्त्र नहीं थे और चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्स्ना में उसका कान्तिमान् मुख एक अनुपम ज्योति से चमक रहा था। राजकुमार ने अपने हृदय मे एक नये और मृदुल भाव की सृष्टि का अनुभव किया। तूफ़ान में उसके सब वस्त्र भी खो गये थे। केवल एक चादर उसने ओढी हुई थी। उसने झट अपनी आधी चादर काटकर उस रमणी का शरीर ढक दिया। वह उसे होश में लाने का प्रयत्न करने लगा। थोड़ी देर के बाद युवती ने

रानी लिएऊ-ये

हम ऊपर कह आये हैं कि मेकांग की घाटी पर उस समय ख्मेर-जाति का प्रभुत्व था और उसके शासक नागवंश के थे। राजकुमार कौण्डिन्य का जहाज़ इसी देश के समुद्र-तट पर आ लगा। उस सलिल-निर्भरा भूमि के रमणीय दृश्य और प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर राजकुमार ने वहाँ लंगर डाल दिया। उस समय ख्मेर देश पर एक युवती रानी राज करती थी, जिसका नाम चीनी इतिहासकारों ने लिएऊ-ये लिखा है। नागराज-कन्या और उसकी प्रजा नंगे रहते थे। वे शस्त्रविद्या में बड़े प्रवीण थे, परन्तु थे बिलकुल असभ्य।

नागराज-कन्या से युद्ध

जब नागराज-कन्या को राजकुमार कौण्डिन्य के आने का समाचार मिला तो उसने इस आगन्तुक का प्रतिरोध करना चाहा। उसने अपनी सेना इकट्ठी की और किश्तियों में सवार होकर युद्ध के लिए आ डटी। बहुत समय तक युद्ध होता रहा। कौण्डिन्य के साथी संख्या में बहुत थोड़े थे, परन्तु उनका जहाज बड़ा और सुरक्षित था। कौण्डिन्य का धनुष भी बहुत दूर तक मार कर सकता था। उसका एक तीर रानी के जहाज में जा लगा, जिससे उसकी सेना में घबराहट पैदा हो गई। परन्तु नागराज-कन्या एक वीर महिला थी। वह बराबर युद्ध करती रही। इसी अवसर पर समुद्र में एक भारी तूफान आया और तब दोनों विरोधी दल परस्पर

आँखे खोलीं और कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उसने अपने रक्षक की ओर देखा। यही इस दिव्य-दम्पती का प्रथम मिलन था। दोनों एकटक एक दूसरे की ओर सतृष्णा नेत्रों से देखते रहे। उनके अन्दर प्रेम का अंकुर सहसा पैदा हुआ। एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका मूक प्रेम एक नये प्रकार का प्रेम था। कुछ देर के बाद युवती ने अपना हाथ राजकुमार के हाथ पर रख दिया, यही उनका पाणि-ग्रहण था। भगवान् समुद्रदेव और विकसित शीतरश्मि ही उनके मूक विवाह के साक्षी थे।

यह युवती कौन थी? वही नागराज-कन्या लिएऊ-ये—ख्मेर-जाति की रानी। घोर युद्ध का अजीब निराला परिणाम! हम कह नहीं सकते कि इस युद्ध में किसकी जीत हुई और किसकी हार। प्रात होते ही दोनों दलों के बचे हुए लोगों ने देखा कि रानी ने राजकुमार को निःशस्त्र ही कैद कर लिया है—ऐसे प्रेम-पाश में, जो लोह-पाश से कहीं अधिक सुदृढ था।

भवपुर की स्थापना

जब राजकुमार कौण्डिन्य ने नागराज-कन्या से धर्मचर्या के लिए पाणि-ग्रहण किया तो उसने रानी का नाम सोमा रक्खा। कौण्डिन्य ने रानी की प्रजा को वस्त्र पहनना सिखलाया। ख्मेर जाति वीरत्व और नैसर्गिक गुणों में किसी से कम न थी। भारतीय सभ्यता के सम्पर्क में उसमें एक नये जीवन का संचार हुआ। कौण्डिन्य और नागराज-कन्या ने सारे काम्बोज देश को जीतकर

एक विस्तृत राज्य बना लिया। परन्तु कौण्डिन्य अपने इष्टदेव को भूला न था। उसने एक नई राजधानी बसाई, जिसका नाम भवपुर रक्खा गया। भवपुर के भव्य नगर के मध्य में उसने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के भाले को स्थापित किया।

काम्बोज-साम्राज्य

इस महत्त्वाकांक्षी दम्पती के प्रयत्न से एक ऐसे सुदृढ़ राज्य की नींव पडी कि १२०० वर्ष तक यह साम्राज्य शक्तिशाली रहा। उनके वंशजों ने राजनीतिक क्षेत्र मे—दक्षिण मे सुमातरा और जावा तक, पश्चिम मे श्याम और बर्मा तक, उत्तर मे अनाम और चम्पा तक अपनी शक्ति का प्रसार किया। चीन के सम्राटों के दूत उनकी राजसभा को सुशोभित करते थे। कला के क्षेत्र मे तो उन्होंने कमाल ही कर दिया। काम्बोज मे ऐसे भव्य निर्माणों की सृष्टि हुई कि खमेर-कला अपनी जन्मदात्री भारतीय कला को बहुत पीछे छोड गई। आर्य-संस्कृति इस नवीन उर्वरा भूमि मे ऐसी फली फूली कि उसकी कला के सहस्रों नमूने आज भी हमे मुग्ध करते हैं।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् डाक्टर फ़िनो ने कहा है—अब तक भारत अपने समुद्र-तट तक ही अपनी सीमा समझे बैठा था। अब स्वर्णभूमि और उससे परे सुदूर पूर्व मे जो भारतीय कला के अनेक सुन्दर अवशेष मिले हैं, उनके कारण भारत ने सतृष्ण नेत्रों से अपने पुरातन उपनिवेशों की ओर देखना शुरू कर दिया है।

सुदृढ़ राज्य बना लिया। परन्तु कौण्डिन्य अपने इष्टदेव को भूला न था। उसने एक नई राजधानी बसाई, जिसका नाम भवपुर रखा गया। भवपुर के भव्य नगर के मध्य मे उसने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के भाले को स्थापित किया।

काम्बोज-साम्राज्य

इस महत्त्वाकांक्षी दम्पती के प्रयत्न से एक ऐसे सुदृढ राज्य की नींव पड़ी कि १२०० वर्ष तक यह साम्राज्य शक्तिशाली रहा। इसके वंशजों ने राजनीतिक क्षेत्र मे—दक्षिण मे सुमातरा और जावा तक, पश्चिम में श्याम और वर्मा तक, उत्तर मे अनाम और चम्पा तक अपनी शक्ति का प्रसार किया। चीन के सम्राटों के दूत उनकी राजसभा को सुशोभित करते थे। कला के क्षेत्र मे तो उन्होंने कमाल ही कर दिया। काम्बोज मे ऐसे भव्य निर्माणों की सृष्टि हुई कि खमेर-कला अपनी जन्मदात्री भारतीय कला को बहुत पीछे छोड़ गई। आर्य-संस्कृति इस नवीन उर्वरा भूमि मे ऐसी फली फूली कि उसकी कला के सहस्रो नमूने आज भी हमे मुग्ध करते हैं।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् डाक्टर फ़िनो ने कहा है—अब तक भारत अपने समुद्र-तट तक ही अपनी सीमा समझे बैठा था। अब स्वर्णभूमि और उससे परे सुदूर पूर्व मे जो भारतीय कला के अनेक सुन्दर अवशेष मिले हैं, उनके कारण भारत ने सतृष्ण नेत्रों से अपने पुरातन उपनिवेशों की ओर देखना शुरू कर दिया है।

आँखे खोलीं और कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उसने अपने रक्षक
ओर देखा। यही इस दिव्य-दम्पती का प्रथम मिलन था।
एकटक एक दूसरे की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखते रहे।
अन्दर प्रेम का अंकुर सहसा पैदा हुआ। एक दूसरे की भाषा
अनभिज्ञ होने के कारण उनका मूक प्रेम एक नये प्रकार का
था। कुछ देर के बाद युवती ने अपना हाथ राजकुमार के हाथ
रख दिया, यही उनका पाणि-ग्रहण था। भगवान् समुद्रदेव
विकसित शीतरश्मि ही उनके मूक विवाह के साक्षी थे।

यह युवती कौन थी? वही नागराज-कन्या लिएऊ-
ख्मेर-जाति की रानी। घोर युद्ध का अजीब निराला परिणा
हम कह नहीं सकते कि इस युद्ध मे किसकी जीत हुई और कि
हार। प्रात. होते ही दोनों दलों के बचे हुए लोगों ने देखा
रानी ने राजकुमार को निःशस्त्र ही कैद कर लिया है—ऐसे प्रेम-
में, जो लोह-पाश से कहीं अधिक सुदृढ़ था।

भवपुर की स्थापना

जब राजकुमार कौण्डिन्य ने नागराज-कन्या से धर्म
के लिए पाणि-ग्रहण किया तो उसने रानी का नाम सोमा रख
कौण्डिन्य ने रानी की प्रजा को वस्त्र पहनना सिखलाया।
जाति वीरत्व और नैसर्गिक गुणों मे किसी से कम न थी। भार
सभ्यता के सम्पर्क से उसमें एक नये जीवन का संचार हु
कौण्डिन्य और नागराज-कन्या ने सारे काम्बोज देश को अ

एक विस्तृत राज्य बना लिया। परन्तु कौण्डिन्य अपने इष्टदेव को भूला न था। उसने एक नई राजधानी बसाई, जिसका नाम भवपुर रक्खा गया। भवपुर के भव्य नगर के मध्य मे उसने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के भाले को स्थापित किया।

काम्बोज-साम्राज्य

इस महत्त्वाकांक्षी दम्पती के प्रयत्न से एक ऐसे सुदृढ राज्य की नींव पडी कि १२०० वर्ष तक यह साम्राज्य शक्तिशाली रहा। उनके वंशजों ने राजनीतिक क्षेत्र मे—दक्षिण मे सुमातरा और जावा तक, पश्चिम मे श्याम और वर्मा तक, उत्तर मे अनाम और चम्पा तक अपनी शक्ति का प्रसार किया। चीन के सम्राटों के दूत उनकी राजसभा को सुशोभित करते थे। कला के क्षेत्र में तो उन्होंने कमाल ही कर दिया। काम्बोज मे ऐसे भव्य निर्माणों की सृष्टि हुई कि खमेर-कला अपनी जन्मदात्री भारतीय कला को बहुत पीछे छोड गई। आर्य-संस्कृति इस नवीन उर्वरा भूमि मे ऐसी फली फूली कि उसकी कला के सहस्रों नमूने आज भी हमे मुग्ध करते हैं।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् डाक्टर फ़िनो ने कहा है—अब तक भारत अपने समुद्र-तट तक ही अपनी सीमा समझे बैठा था। अब स्वर्णभूमि और उससे परे सुदूर पूर्व में जो भारतीय कला के अनेक सुन्दर अवशेष मिले हैं, उनके कारण भारत ने सतृष्ण नेत्रों से अपने पुरातन उपनिवेशों की ओर देखना शुरू कर दिया है।

और वह समय अब दूर नहीं है, जब नवभारत के शिक्षित युवक काम्बोज के अंगकोर मन्दिर की यात्रा कर अपनी सभ्यता के एक उज्ज्वलतम पुष्प की पूजा किया करेंगे।'

समय आएगा, जब हमारा कोई जातीय महाकवि इस विशाल भारत के वीर काव्य की रचना करेगा। नागराज-कन्या सोमा और उसके तेजस्वी पति कौण्डिन्य की पद-वन्दना से ही उस महाकाव्य का श्रीगणेश होगा।

द्रौपदी

भारत के नारी-रत्नों मे द्रौपदी का भी एक उच्च स्थान है। यह पाचाल देश के राजा द्रुपद की पुत्री थी। वह जैसे रूप में अद्वितीय थी, वैसे ही गुणों मे भी अनुकरणीय थी। जब वह विवाहने योग्य हुई तो उसके पिता ने स्वयंवर रचा और यह प्रण किया कि जो पुरुष ऊपर लटकती हुई मछली को नीचे पानी में पडते हुए उसके प्रतिबिम्ब की ओर देखता हुआ बाण से वेधेगा, उसी के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा।

स्वयंवर

इस स्वयंवर मे अनेकों राजा और राजकुमार एकत्रित हुए। उन्हीं मे से पाण्डु का पुत्र अर्जुन भी था। जब कोई भी उस मछली को न वेध सका, तब अर्जुन ने उसे वेध दिया और द्रौपदी को अपने घर ले आया। कहा जाता है कि जिस समय अर्जुन द्रौपदी को

लेकर आया, उसकी माता कुन्ती किसी काम में लगी हुई थी। इससे उसने देखा तो कुछ नहीं और अर्जुन के यह कहते ही कि 'माँ ! मैं कुछ लाया हूँ' एकदम कह दिया कि 'अच्छा, पाँचों भाई बाँट लो !'

जब कुन्ती को पता चला कि अर्जुन की लाई हुई वस्तु तो एक जीवधारी पदार्थ है और उसे पाँचों भाई नहीं ले सकते, तब उसको बहुत पश्चात्ताप हुआ और सब मिलकर विचारने लगे कि अब क्या करना चाहिए। अन्त में यही निश्चय हुआ कि द्रौपदी से पाँचों भाइयों को मिलकर विवाह करना चाहिए, जिससे माता का वचन असत्य न हो।

यह भी कथा है कि द्रौपदी ने कैलाश में जाकर महादेव का भारी तप किया था। तब प्रसन्न हो शंकर ने कहा था—'पुत्री ! वर माँग।' उस समय द्रौपदी के मुख से एकदम पाँच बार 'पति' 'पति' शब्द निकला था, जिस पर महादेव ने कहा था—'अच्छा ! तुम्हें पाँच ही पति मिलेंगे।' बस, इसी वरदान-स्वरूप द्रौपदी के पाँच पति हुए और उसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल तथा सहदेव इन पाँचों भाइयों की स्त्री बनना पड़ा। ये भाई पाण्डव कहलाते थे।

द्रौपदी का अपमान

कौरव और पाण्डव चचेरे भाई थे। राज्य दोनों का आधा-आधा होना उचित था। पाण्डव धर्म-प्रिय थे किन्तु कौरवों की नीयत ठीक नहीं थी। कौरवों के पिता अन्धे धृतराष्ट्र ने राज्य के

कुछ भाग पाण्डवों को दे दिया था। इस राज्य मे वे इन्द्रप्रस्थ नाम का नगर वसाकर सन्तोष से शासन करते थे। परन्तु कौरव उनसे जलते थे और हर समय उनसे शत्रुता का भाव रखते थे। उन्होंने राज्य छीन लेने की इच्छा से पाण्डवों को जुआ खेलने पर विवश किया। इस जुए मे कौरवों के छल-कपट से पाण्डव अपना सारा राज-पाट हार गये। तदनन्तर युधिष्ठिर ने पाँचों भाइयों को जुए मे हार दिया। अब केवल द्रौपदी शेष रह गई थी। अंत मे उसे भी हार दिया।

जब पाण्डव हार गये तो दुर्योधन ने अपने सारथि द्वारा द्रौपदी को राज-सभा में बुला भेजा, पर वह न आई। तब दुर्योधन ने दु:शासन को उसे बलपूर्वक लाने को भेजा। दु:शासन ने राजसभा का सब हाल सुनाकर द्रौपदी से वहाँ चलने को कहा। उसके मना करने पर भी वह द्रौपदी को घसीटकर राजसभा में ले आया। द्रौपदी को राजसभा मे विद्यमान देखकर सब कौरव हँसने लगे, किन्तु जो ऋषि-मुनि राजसभा मे बैठे थे, वे कहने लगे कि यह बड़ा अन्याय हुआ है। मदान्ध दुर्योधन की आज्ञा से दुष्ट दु:शासन ने द्रौपदी को अपमानित करना चाहा और वह उसकी धोती पकड़कर खींचने लगा। इससे राजसभा मे हाहाकार मच गया। सब लोग चित्र-लिखित से रह गये, किंतु इतना साहस किसी को भी न हुआ कि इन अपमानजनक कार्य को रोके। सभा में इस तरह निर्लज्जता का व्यवहार होना देखकर द्रौपदी बहुत ही घबराई। वह चिल्लाई और रोने लगी। किन्तु किसी ने उस ओर ध्यान न दिया। पहले तो द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों की ओर देखकर उनसे सहायता की प्रार्थना की। उसके बाद उसने

धृतराष्ट्र आदि की ओर दीनता से देखा। उधर प्रतिज्ञा में बँधे हुए पाँचों पाण्डव चुपचाप बैठकर यह अत्याचार देखते रहे। तब द्रौपदी ने भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की। प्रसिद्ध है कि कृष्ण ने कोई ऐसी माया रची, जिससे सभा मे द्रौपदी का अपमान न हो सका।

वृद्ध राजा धृतराष्ट्र को अपने पुत्र दुर्योधन की यह करतूत पसन्द नहीं थी। वह अपने मन मे बड़ा दुःखी था, परन्तु पुत्रों के आगे वश न चलने से वह चुप बैठा था। जब यह सब हो चुका तो उसने अपने पुत्रों को फटकारा और द्रौपदी से कहा—'बेटी, मैं तेरा सत्य देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। जो मुझसे माँगना हो सो माँग! मैं वह तुझे दूँगा।'

द्रौपदी ने कहा—'और तो मैं कुछ भी नहीं चाहती; क्योंकि अधिक लोभ से धर्म की हानि होती है, परन्तु एक बात मैं माँगती हूँ। वह यह है कि मेरे इन पाँचों पतियों को दास न बनाया जाय।'

इससे पाण्डव दासत्व से तो बच गये, परन्तु दुर्योधन ने उनको बारह वर्ष तक वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास का दण्ड देकर नगर से निकल जाने की आज्ञा दे दी। द्रौपदी ने भी एक आदर्श पत्नी के समान वल्कल वस्त्र पहन लिये और वन में जाते हुए पाण्डवों का साथ दिया।

द्रौपदी कभी इस घोर अपमान को न भूल सकी। उसके संतप्त हृदय के भावों को महाकवि भारवि ने बहुत प्रभावशालिनी भाषा में प्रकट किया है। किरातार्जुनीय में पाण्डवों को युद्ध की प्रेरणा करती हुई द्रौपदी अर्जुन को कहती है—

दुःशासनाकर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित् स एवासि धनञ्जयस्त्वम्॥

क्या तुम वही धनञ्जय हो, जिसकी सारी शक्ति मिट्टी मे मिला दी गई थी, जब ये अनाथ केश दुःशासन के खींचने से रजोविकीर्ण हो गये थे।

वनवास-काल

द्रौपदी वन मे कंकरो वाली भूमि पर वृक्ष की छाया मे सोती और कन्द मूल फल खाकर उदर-पूर्त्ति करती थी। वह सदा पाण्डवों की सेवा करती और कभी घर को तथा वैभव को याद नहीं करती थी। जब पाण्डवों मे से कोई उससे पूछता भी तो वह यही उत्तर देती कि मुझको आपके चरणों के दर्शन नित्य हो जाते हैं, इससे मेरे लिए जंगल ही में मंगल है। इस तरह द्रौपदी राज-पाट के सुख को भूलकर सन्तुष्ट हो वन में रहने लगी।

एक दिन पाँचों भाई तो शिकार के लिए चले गये और द्रौपदी को धौम्य मुनि की रक्षा मे आश्रम में ही छोड़ गये। पीछे से सिन्धु देश का राजा जयद्रथ उधर आ निकला। द्रौपदी का रूप देखकर वह मोहित हो गया और उसको पकड़कर ले जाने लगा, किन्तु द्रौपदी ने वीर क्षत्राणी का-सा पराक्रम दिखाकर अपने को उसके बन्धन से छुड़ा लिया।

जब पाण्डवों के बारह वर्ष पूरे हो गये और अज्ञातवास का तेरहवां वर्ष शुरू हुआ, तो पाँचों भाई नाम और रूप बदलकर राजा

विराट के यहाँ नौकर हो गये। द्रौपदी भी नाम बदलकर रानी के पास दासी का काम करने लगी। रानी का भाई कीचक बड़ा नीच था। द्रौपदी का रूप देखकर उसका मन बिगड़ा और उसने द्रौपदी को फुसलाने का प्रयत्न किया। इस पर द्रौपदी ने उसको फटकार दिया। इस फटकार से कीचक कुछ ठण्डा हो गया, परन्तु उसके हृदय में अग्नि जलती रही और वह अवसर देखता रहा। एक दिन रानी ने द्रौपदी को कुछ वस्तु देकर कीचक के पास भेजा। पहले तो उसने वहाँ जाने में आनाकानी की। अन्त में विवश हो उसे जाना ही पड़ा। कीचक तो यह चाहता ही था। उसने द्रौपदी को अपने महल में रोक रखने का प्रयत्न किया। तब तो वह बहुत घबराई और उससे प्रार्थना करने लगी। परन्तु कुछ फल होते न देख उसने युक्ति से काम लेने का निश्चय किया और दूसरे दिन मिलने की प्रतिज्ञा कर वह किसी प्रकार वापस आ गई। वापस आकर वह सीधा युधिष्ठिर के पास पहुँची। इस समय पाण्डवों के अज्ञातवास का वर्ष पूरा होने में केवल १२ दिन शेष थे। यदि इस समय उनको कोई पहचान लेता तो बारह वर्ष का वनवास उन्हें फिर से भोगना पड़ता। इससे युधिष्ठिर ने यह कहकर टाल दिया कि बारह दिन जैसे कटे, वैसे पूरे हो जाने दो। तब तक कीचक से बची रहो। इसके बाद हम उससे निपट लेंगे।

वहाँ से सूखा उत्तर पाने पर वह अर्जुन के पास गई, फिर नकुल और सहदेव के पास गई, परन्तु सब से वैसा ही उत्तर मिला। तब तो उसको बड़ा दुःख हुआ और वह रोती रोती भीमसेन

के पास जाकर बोली कि आपके चारों भाइयों के पास मैं अपना दुखड़ा रो आई, पर किसी ने भी मेरी व्यथा की ओर ध्यान नहीं दिया। आप और अर्जुन-जैसे पराक्रमी वीरों के रहते हुए मेरा अपमान हो, यह क्या उचित है ?

भीमसेन महापराक्रमी था किंतु विना सोचे-विचारे काम कर डालने वाला भी था। द्रौपदी के यह वचन सुनते ही उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गईं और वह बोला—'मैं भी तो देखूँ कि कीचक कौन है ? अपने वस्त्र मुझे दे जाओ, फिर तुम कीचक को मरा ही पाओगी।'

भीमसेन द्रौपदी के वस्त्र पहनकर कीचक के पास गया और वहाँ उसने उसे मार डाला। इस तरह इस आपत्ति से द्रौपदी को छुटकारा मिला।

युद्ध

वनवास का समय पूरा हो जाने पर भी जब कौरवों ने पाण्डवों को आधा राज्य नहीं दिया तो पाण्डवों ने युद्ध की तैयारी की। यह युद्ध 'महाभारत के युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों ओर से युद्ध की ज़ोर-शोर से तैयारी हुई। इस युद्ध में श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर थे। युद्ध से पहले उन्होंने एक बार दोनों पक्षों में आपस में समझौता कराने का प्रयत्न किया, किन्तु कोई फल न निकला। अन्त में कुरुक्षेत्र की रणभूमि में एक महाभयंकर युद्ध हुआ, जो अठारह दिन तक जारी रहा। इस महायुद्ध में अठारह

अक्षौहिणी सेना मारी गई और दोनों ओर के बड़े-बड़े वीर योद्धा काम आये। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्योधन आदि कौरवों की ओर के महारथी मारे गये और पाण्डव विजयी हुए। द्रौपदी को अपमानित करने वाले दुष्ट दुःशासन को भीमसेन ने बड़ी क्रूरता से मार डाला। पाण्डवों की भी सारी सेना मारी गई।

क्षमा-शीलता

युद्ध के अन्त में, रात्रि के समय पाण्डव और कौरवों के गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा द्रौपदी के सोते हुए पाँचों पुत्रों का सिर काट गया। प्रातःकाल होने पर जब यह दुःखद समाचार ज्ञात हुआ तो द्रौपदी विलाप करने लगी। इस पर अर्जुन बोला—'मैं अभी अश्वत्थामा को मारकर उसका सिर काट लाता हूँ।' और झट धनुष बाण लेकर एक भारी युद्ध के पश्चात् अर्जुन अश्वत्थामा को जीता ही पकड़ लाया। गुरु-पुत्र अश्वत्थामा को देखकर द्रौपदी ने रोते-रोते अर्जुन से प्रार्थना की कि—'प्राणनाथ! यह आपके गुरु द्रोणाचार्य का पुत्र है और द्रोणाचार्य से ही धनुर्विद्या सीखकर आप जगत्-प्रसिद्ध हुए हैं। इससे आपके लिए गुरु-पुत्र का सिर काटना ठीक नहीं है। मैं तो अपने पुत्रों के दुःख से दुःखी हूँ ही, परन्तु इसको मरने से इसकी माता भी मेरी भाँति दुःखी हो जायगी। इसलिए आप इसे क्षमा कर दीजिए और छोड़ दीजिए।'

द्रौपदी की ये बातें सुनकर सब लोग उसकी प्रशंसा करने लगे और अर्जुन ने अश्वत्थामा को छोड़ दिया। वह लज्जा के मारे

नीचा सिर किये वहाँ से चल दिया।

अन्त मे पाण्डवों को राज्य मिला और वहुत समय तक द्रौपदी रानी वनकर सुख से रही। इस तरह अनेक वार उस पर आपत्ति और कष्ट आये, परन्तु उसने वहुत ही धैर्य और शान्ति के साथ अपने कर्तव्य का पालन किया। भयंकर विपदाएँ आने पर भी वह विचलित न होती थी। वह वड़ी स्थिर-वुद्धि, क्षमाशील, और पतिव्रता स्त्री थी। वनवास में उसने समय-समय पर पाण्डवों को क्षत्रिय-धर्म-सम्वन्धी शिक्षा और सलाह देकर अपनी श्रेष्ठता का परिचय दिया। वहुत समय तक राज्य कर लेने के उपरान्त पाण्डवों ने अपने पोते परीक्षित को राजगद्दी दे दी और वे स्वयं हिमालय की ओर चल दिये। उस समय भी द्रौपदी उनके ही साथ रही और उनके ही साथ परमधाम को प्राप्त हुई।

बुद्ध के जीवन मे जहाँ हम शान्ति देखते हैं, गम्भीरता और स्थिरता पाते हैं, वहाँ यशोधरा के जीवन मे हम अशान्ति देखते हैं और विकलता तथा निराशा पाते हैं। उसे इतना भी मालूम नहीं हो पाया कि किस दुर्भाग्य अथवा अपराध-स्वरूप उसके प्राण-प्रिय पति उसे छोड़कर चल दिये। बुद्ध के ज्ञान से अधिक यशोधरा के कोमल हृदय का अज्ञान हम मनुष्यों के हृदयों को इसलिए प्रभावित करता है कि बुद्ध ने तो व्यक्तिगत दृष्टि से अनवरत साधना द्वारा अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया था, परन्तु संसारी यशोधरा व्यक्तिगत दृष्टि से आजीवन विरह-मग्न और सहानुभूति का पात्र बनकर रही।

यशोधरा राजा दण्डपाणि की पुत्री थी। उसका लालन-पालन बड़े प्रेम से किया गया था। जब वह सयानी हुई, तो कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन ने अपने पुत्र सिद्धार्थ से उसका विवाह करने की इच्छा प्रकट की। सिद्धार्थ में बाल्यकाल से ही वीतरागता के लक्षण दिखाई दे रहे थे। शिक्षित होने पर उनकी यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई। शुद्धोदन को चिन्ता हुई और सिद्धार्थ को संसारी बनाने के लिए उन्होंने उनका विवाह कर देना निश्चित किया। उन्होंने यशोधरा के रूप और यौवन को देखकर उसे सिद्धार्थ के लिए योग्य समझा। जब राजा शुद्धोदन ने कुमारी यशोधरा के पिता दण्डपाणि के पास अपने दूत द्वारा विवाह का प्रस्ताव भेजा, तब दण्डपाणि ने कहा कि राजा शुद्धोदन चाहे कितने ही बड़े राजा क्यों न हों, पर जब तक मैं राजकुमार की योग्यता की परीक्षा न कर लूँगा, तब तक अपनी

अपनी पुत्री का विवाह नहीं कर सकता। यह बात सुनकर शुद्धोदन बड़ी चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने सोचा कि मेरा लड़का तो रात-दिन दया-धर्म की चिन्ता मे पड़ा रहता है, वह क्योंकर अपनी वीरता की परीक्षा दे सकेगा ? जो हो, उन्होंने दण्डपाणि की बात राजकुमार के कानों तक पहुँचा दी। राजकुमार सिद्धार्थ उसी समय परीक्षा देने के लिए तैयार हो गये। राजा की चिन्ता मिट गई। उन्हें आशा की ज्योति दिखाई देने लगी।

उन्होंने दण्डपाणि को कहला भेजा कि क्षत्रिय का पुत्र अपनी वीरता की परीक्षा देने से कभी मुख नहीं मोड़ सकता। आप जब चाहें, राजकुमार सिद्धार्थ की परीक्षा ले सकते हैं। यह सुनते ही दण्डपाणि ने इस अवसर के लिए कई लोगों को निमन्त्रित किया। महाराज शुद्धोदन भी राजकुमार सिद्धार्थ को लेकर वहाँ पहुँच गये। वहाँ राजकुमार ने अस्त्र-शस्त्र-संचालन के कौशल दिखाकर लोगो को मुग्ध कर दिया। इसके साथ उन्होंने वेद-वेदांग और इतिहास-पुराण आदि में भी अ विद्याबल का पूर्ण परिचय दिया। तब दण्डपाणि ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या का विवाह राजकुमार सिद्धार्थ के साथ कर देना स्वीकार कर लिया।

शुभ दिन और शुभ मुहूर्त देखकर दण्डपाणि ने अपनी कन्या यशोधरा का विवाह युवराज सिद्धार्थ के साथ कर दिया।

वर-वधू के अपनी राजधानी कपिलवस्तु मे लौट आने बहुत दिनों तक वहाँ बड़ी धूमधाम और चहल-पहल रही।

राजा ने राजकुमार और उसकी पत्नी के लिए एक सुन्दर महल बनवा दिया। राजा शुद्धोदन के आनंद का भला क्या ठिकाना था? पहले जो इन्हें रात-दिन यही भय लगा रहता था कि मेरा पुत्र कहीं घर-बार छोड़कर संन्यासी न हो जाय, वह भय अब जाता रहा। वे दिन-रात इस नई जोड़ी के आनन्द के लिए सब प्रकार के साधन जुटाते रहते। प्रत्येक ऋतु के अनुसार उनके रहने का स्थान बदल दिया जाता था और सब महलों की सजावट नये-नये ढंग से की जाती थी। इसी प्रकार सिद्धार्थ-दम्पती बड़े सुख से अपना जीवन बिताने लगे। राजकुमार अपने अनुकूल पत्नी पाकर और यशोधरा सर्व-गुण-सम्पन्न स्वामी को पाकर अपने आपको धन्य मानती। राजा शुद्धोदन अपने बेटे और बहू को इस तरह सुख से रहते देख अपने भाग्य की सराहना करते तृप्त न होते थे। सचमुच, इस समय इस नई जोड़ी का पवित्र प्रेम वर्षाकाल की नदी की भाँति पूर्ण उमंग पर था। ऐसा मालूम होता था, मानो हंसों की जोड़ी विहर रही हो। इस तरह कई वर्ष व्यतीत हो गये। दिन जाते क्या देर लगती है। सुख के दिन वायु की गति के समान बीत जाते हैं। कोई जानता भी नहीं कि वे किधर से आये और किस ओर चल दिये।

एक दिन, जब कि रात बीत चुकी थी, आकाश में प्रभात की उज्ज्वल किरण का उदय हो आता था और प्रभात-वायु मंद-मंद बह रही थी, राजकुमार की निद्रा भंग करने के लिए गायकों ने प्रभाती गाना शुरू किया। पर आज इस प्रभाती को राजकुमार ने दूसरे कान

में लिया और ध्यान लगाकर सुनने लगे। उस गीत का भाव यही था कि इस संसार मे कोई वस्तु सदा रहने वाली नहीं है। एक दिन सभी को मरना होता है। सभी को रोग और बुढ़ापे का शिकार बनना पड़ता है। इंद्रियों के सुख मे डूबे हुए मनुष्य आप ही अपने रोग और शोक मोल लेते हैं। संसार के सारे सुख स्वप्न की भाँति नाशवान् हैं। जवानी चार दिनों की चाँदनी है और बुढ़ापा समय पर सारे सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। फिर इस रोग, शोक, बुढ़ापा और मृत्यु आदि से कैसे छुटकारा मिल सकता है जब सभी काल के वशीभूत हैं। फिर स्यात् एक भी ऐसा नहीं, जिसने कभी मृत्यु को अपने वश मे किया हो?

यह गीत सुनकर राजकुमार का हृदय चंचल हो उठा। वे सोचने लगे—'सचमुच, मृत्यु अवश्यम्भावी है। फिर इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन को भोग-विलास मे क्यों खोया जाय?'

उसी दिन से सिद्धार्थ के मन के भाव वैराग्य की ओर झुकने लगे। वे सदा उदासीन रहते और निरंतर किसी चिन्ता मे निमग्न। सिद्धार्थ की यह उदासी बढ़ती चली गई और धीरे-धीरे महल, उपवन, शोभा-सजावट, वाद्य-संगीत, इन सब से उनका मन हटने लगा। यशोधरा से उनके ये चिह्न-चक्कर छिपे न रहे। भला, कौन बुद्धिमती नारी अपने स्वामी की हर एक बात नहीं भाँप लेती? उसने पूर्व ही सुन रक्खा था कि राजकुमार की प्रवृत्ति वैराग्य की ओर है। अब उनका यह बदला हुआ रंग-ढंग देखकर वह बहुत चिन्ता में पड़ गई। तो भी उसने सोचा कि कहीं उनका यह वैरा-

लगे। वे ज्यों-ज्यों इन बातों को सोचते, त्यों-त्यों उनके मन का वैराग्य बढ़ता चला गया।

उन्हीं दिनों उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-जन्म का समाचार पाते ही सिद्धार्थ ने सोचा कि अब तो यह माया का बंधन मुझे और भी अधिक जकड़ना चाहता है, इसलिए अब देर करना ठीक नहीं। उस समय पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में खुशी के बाजे बज रहे थे, मंगल-गीत गाये जा रहे थे, याचकों को मुँह-माँगा दान मिलता था। उन्होंने इन उत्सवों की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया और यशोधरा से विदा लेने की इच्छा से वे महलों की ओर बढ़े।

जब वे यशोधरा के राजमहल में पहुँचे तो रात अधिक हो गई थी और गाना-बजाना बंद हो चुका था। दीपक झिलमिला रहे थे। सिद्धार्थ धीरे-धीरे यशोधरा के कमरे में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि यशोधरा अपने बच्चे को गोद में लिये बेसुध सोई हुई है। उस बेचारी को क्या पता था कि उसकी यह रात सुख की अन्तिम रात है। उसे क्या मालूम था कि उसके प्राणाधार उसी समय उसे सदा के लिए छोड़कर जा रहे हैं। यदि वह इस बात को जान जाती, तो शायद आज यह इतिहास कुछ और ही तरह का बन गया होता। सिद्धार्थ ने जी भरकर अपनी पत्नी और पुत्र को देखा और चाहा कि एक बार बच्चे को गोद में उठाकर उसे गले से लगा लें, परन्तु तुरन्त ही उनके मन में आया कि माया का यह जाल भी काट डालना ही उचित है और एक बार फिर आँखें

मेरी किसी त्रुटि का ही परिणाम न हो। इस विचार से प्रेरित होकर एक दिन अवसर पाकर यशोधरा ने अपने पति से कहा—'नाथ! मैं आजकल देखती हूँ कि आपका मन किसी काम में नहीं लगता। न तो आप रुचि के साथ खाते-पीते हैं, और न ही कहीं घूमने-घामने के लिए जाते हैं, न मीठी नींद सोते हैं, और न मुझसे ही पहले की भाँति तन्मयता से बातें करते हैं। आपका मुख उदास रहता है। आँखों का वह प्रेम-भरा भाव नष्ट हो गया है। यह सब क्या है? मुझे ऐसा भय होता है कि मुझसे ही कोई अपराध बन पड़ा है, जिसके कारण आपका चित्त दुःखी हो रहा है।'

यह सुनकर सिद्धार्थ ने कहा—'आज तुम यह नया प्रश्न कहाँ से ले आईं? भला तुमसे कभी कोई अपराध हो सकता है?'

यह उत्तर पाकर यशोधरा को सन्तोष आता रहा किन्तु सिद्धार्थ के मन की व्यथा ज्यों की त्यों बनी रही। उन्हें हर एक वस्तु में दुःख दिखने लगा। एक दिन जब वे रथ पर सवार होकर नगर-दर्शन के लिए जा रहे थे, तो उन्होंने एक वृद्ध और दुर्बल मनुष्य को देखा, जिसके बाल सफेद हो गये थे, कमर झुक गई थी और शरीर एक कंकाल के समान दिखाई दे रहा था। फिर दूसरे दिन फिर जब वे नगर के बाहर जा रहे थे तो उन्होंने एक रोगी मनुष्य को देखा। [illegible] उन्होंने लोगों को एक शव श्मशान की ओर ले जाते हुए देखा। [illegible] कि दुनिया पर [illegible] [illegible] बुढ़ापा, रोग और मृत्यु [illegible]

लगे। वे ज्यों-ज्यों इन बातों को सोचते, त्यों-त्यों उनके मन का वैराग्य बढ़ता चला गया।

उन्हीं दिनों उनके यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-जन्म का समाचार पाते ही सिद्धार्थ ने सोचा कि अब तो यह माया का बंधन मुझे और भी अधिक जकड़ना चाहता है, इसलिए अब देर करना ठीक नहीं। उस समय पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में खुशी के बाजे बज रहे थे, मंगल-गीत गाये जा रहे थे, याचकों को मुँह-माँगा दान मिलता था। उन्होंने इन उत्सवों की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया और यशोधरा से विदा लेने की इच्छा से वे महलों की ओर बढ़े।

जब वे यशोधरा के राजमहल में पहुँचे तो रात अधिक हो गई थी और गाना-बजाना बंद हो चुका था। दीपक झिलमिला रहे थे। सिद्धार्थ धीरे-धीरे यशोधरा के कमरे में पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि यशोधरा अपने बच्चे को गोद में लिये बेसुध सोई हुई है। उस बेचारी को क्या पता था कि उसकी यह रात सुख की अन्तिम रात है। उसे क्या मालूम था कि उसके प्राणाधार इसी समय उसे सदा के लिए छोड़कर जा रहे हैं। यदि वह इस बात को जान जाती, तो शायद आज यह इतिहास कुछ और ही तरह का बन गया होता। सिद्धार्थ ने जी भरकर अपनी पत्नी और पुत्र को देखा और चाहा कि एक बार बच्चे को गोद में उठाकर उसे गले से लगा लें, परन्तु तुरन्त ही उनके मन में आया कि माया का यह जाल भी काट डालना ही उचित है और एक बार फिर आँखें

भरकर स्त्री-पुत्र को देख, उनकी भलाई के लिए भगवान् से प्रार्थना करता हुआ वह चुपचाप महल से बाहर हो गया।

अपने राज्य की सीमा पर पहुँचकर उन्होंने राजसी वेश-भूषा छोड़कर संन्यास धारण कर लिया। उनका सारथि छंदक यह देखकर रोने लगा परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ ने समझा-बुझाकर उसे कपिलवस्तु की ओर वापस लौटा दिया।

प्रातःकाल होते ही भोली यशोधरा को पता चला कि उसके स्वामी उसे सर्वदा के लिए छोड़कर चले गये हैं, तब उसके शोक का पारावार न रहा। उसके रोदन और दुःख में पशु-पक्षी तक व्याकुल हो उठे। सारे नगर में शोक छा गया। यशोधरा का जीवन ही शोक का जीवन बन गया। उसने भी राजसी वस्त्र और अलंकार त्याग कर संन्यासिनी के वस्त्र पहन लिये और संन्यासिनियों का-सा जीवन बिताने लगी।

सिद्धार्थ वैशाली और राजगृह में विद्वानों का सत्संग करते हुए गयाजी पहुँचे। राजगृह के राजा बिम्बिसार ने अपना राज्य तक देकर उन्हें अपने यहाँ रखना चाहा, पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। बाद को उन्होंने [illegible] किया और सिद्धि लाभ करके [illegible] को दर्शन देना स्वीकार किया। निरंजना नदी के किनारे [illegible] (सिद्धार्थ) ने समाधि आरम्भ कर दी। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] से [illegible] के [illegible] हो जाने के कारण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] लगे।

एक दिन निरंजना नदी के पार उन्होंने एकान्त मे एक पीपल का वृक्ष देखा। वह स्थान उन्हे समाधि के लिए बहुत उपयुक्त ज्ञान पड़ा। पीछे यही पीपल का वृक्ष बोधि-वृक्ष कहलाया और इसी के नीचे सिद्धार्थ को समाधि मे निर्वाण का तत्त्व दृष्टिगोचर हुआ। स्वयं निष्पाप होकर वह सिद्धार्थ गौतम बुद्ध बन गये और तब प्राणि-मात्र के लिए उन्होंने मुक्ति का मार्ग खोल दिया। कर्मकाण्ड के आडम्बर की अपेक्षा सदाचार को उन्होंने प्रधानता दी और यज्ञों के नाम से होने वाली जीव-हिंसा का घोर विरोध किया। जो पाँच भिक्षु उन्हे छोड़कर चले गये थे, उन्हीं को सब से पहले उन्होने उपदेश दिया। संसार भर मे महात्मा बुद्ध के उपदेशों की धूम मच गई। सारनाथ में ही सब से पहले धर्म-चक्र का परिवर्तन हुआ।

जब राजा शुद्धोदन को अपने पुत्र के समाचार मिले तो उन्होंने उन्हे बुलाने के लिए दूत भेजे किन्तु कपिलवस्तु से जितने भी दूत उन्हे लेने गये, वे सब के सब उनके दर्शन और उपदेशो से स्वयं संसार-त्यागी हो उनके शिष्य बन गये।

कुछ दिनों के अनंतर गौतम बुद्ध स्वयं कपिलवस्तु पधारे। प्रातःकाल जब वे भिक्षा के लिए नगर मे निकले तो राजधानी मे हलचल मच गई। जब वे अपने पिता के पास भिक्षा लेने पहुँचे तो राजा ने कहा—'राजकुमार होकर भी तुमने भिक्षा-वृत्ति क्यों स्वीकार की? मेरे यहाँ क्या नहीं था? क्या हमारे कुल की यही परिपाटी है?'

बुद्ध ने कहा—'नहीं, यह कपिलवस्तु के राजकुल की परिपाटी नहीं, यह बुद्ध-कुल की परिपाटी है।'

वहाँ से गौतम बुद्ध राजमहल में पधारे। हजारों स्त्री-पुरुष वहाँ पहुँच गये। उन्हें देखकर किसी की आँखें भर आईं, किसी का जी भर आया और कोई विस्मय में डूब गया, कोई निन्दा और कोई प्रशंसा करने लगा। बुद्ध ने सम्पूर्ण जनता को उपदेश दिया।

कपिलवस्तु में सभी ने उनका उचित आदर-सत्कार किया। किन्तु यशोधरा उनके पास नहीं आईं। उन्हें जब उनके आगमन का समाचार सुनाया गया तो उसने कहा—'भगवान की मुझ पर कृपा होगी तो वे स्वयं ही मेरे समीप पधारेंगे।'

अगले दिन ही प्रातःकाल यशोधरा ने देखा कि उसके महल के नीचे एक वृक्ष की छाया में काषायवस्त्रधारी एक तेजस्वी संन्यासी बैठे हैं। यशोधरा का पुत्र राहुल इस समय तक सात वर्ष का हो चुका था और वह अपनी माँ से सदा यही प्रश्न पूछा करता कि उसके पिता कहाँ हैं? उस संन्यासी को देखकर यशोधरा भीतर गईं और कुमार राहुल से बोली—'चिरंजीव! तुम्हारे पिता आये हैं।'

राहुल आनन्द से उछल पड़ा और पूछने लगा—'अम्माँ, वह कहाँ हैं?'

यशोधरा राहुल को बाहर ले आई और बडी गम्भीरता से उस महात्मा की ओर संकेत करके बोली—'वह तेरे पिता हैं, पुत्र!'

राहुल दो-चार क्षणों तक चुपचाप उनकी ओर देखता रहा और उसके बाद माँ से पूछने लगा—'माँ, वह घर मे क्यों नहीं आते?'

यशोधरा ने कहा—'वह घर मे न आने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। परन्तु तुम तो उनके पास जा सकते हो! चिरंजीव, जाओ और उनसे अपना उत्तराधिकार माँगो।'

राहुल दौड़कर उस महात्मा के पास चला गया और जाते ही उनसे लिपटकर बोला—'पिता जी; मेरा उत्तराधिकार मुझे भी दीजिए न!'

महात्मा बुद्ध के मुख पर मुस्कराहट की रेखा-सी घूम गई और अपनी गेरुवी चादर उन्होंने बालक राहुल के हाथों मे देकर कहा—'कुमार, यही मेरी सम्पत्ति है! यही तेरा उत्तराधिकार है।'

यशोधरा यह सब देख रही थी। उसकी आँखों में आँसू भर आये। अंत मे वह भी अपने पति के पास जा पहुँची। और महात्मा बुद्ध ने उन दोनों को अपना अनुयायी बना लिया।

मीराबाई

मीराबाई की कविता भारतीय-साहित्य का एक अनमोल रत्न है। इस रत्न का मूल्य सदा बढ़ता ही रहेगा, घटेगा नहीं। मीराबाई का जिस समय प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय समस्त भारत में वैष्णव-साहित्य की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की शाखाओं का पूर्ण प्रभाव था। कृष्ण-भक्तिशाखीय कवियों में विद्यापति ही हिन्दी के सर्वप्रथम कवि हुए हैं। इसके बाद मीरा और मीरा के समकालीन सूरदास, रैदास आदि। उधर राम-भक्ति के सर्व-श्रेष्ठ कवि तुलसीदास हुए। मीरा के पद हिंदी और गुजराती साहित्य में अपना अमर स्थान रखते हैं। मीरा का जीवन बहुत सी आश्चर्यमयी घटनाओं से परिपूर्ण है। एक राजवंश मे उत्पन्न होकर सासारिक बातों से विरक्त हो जाना और उस विरक्ति मे एक भावुक कवयित्री का प्रादुर्भाव कम आश्चर्यजनक बात नहीं।

समय यह किसे पता था कि यही छोटी-सी बालिका बड़ी होने पर राजपूताना की शुष्क और रेतीली भूमि मे भक्ति की मन्दाकिनी बहा देगी ? कौन जानता था कि यही बालिका कभी अपने आदर्श जीवन से सीसौदिया तथा मेड़तिया के राजवंशों की प्रतिष्ठा बढ़ायेगी ?

कहा जाता है कि इनके दादा जी के यहाँ एक बार एक साधु आया। उसके पास गिरिधर गोपाल जी की एक मूर्ति थी। मीरा उस मूर्ति को देखकर मुग्ध हो गईं और उसे पाने के लिए मचल गईं। निरुपाय साधु ने वह मूर्ति मीरा को दे दी। अब मीरा अपने गुड्डा-गुड़ियों के उत्सवों के साथ गिरिधर गोपाल जी के त्यौहार भी मनाने लगीं। बचपन का यही खिलौना उनके जीवन का आधार और सर्वस्व बन गया।

विवाह

मीरा जब लगभग दस वर्ष की हुईं, तब उनकी माता का देहान्त हो गया। तब दूदा जी ने उन्हें अपने पास बुला लिया था। यहाँ दूदा जी की कृष्ण-भक्ति का मीरा पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मीरा के कंठ से सुमधुर भजनों को सुनकर दूदा जी बड़े प्रभावित होते थे। सयानी हो जाने पर मीरा का विवाह मेवाड़ के महाराणा साँगा के बड़े पुत्र भोजराज के साथ कर दिया गया। तब तक मीरा के दादा राव दूदा जी की मृत्यु हो चुकी थी। विदा के समय मीरा अन्य सामग्रियों और खिलौनों के साथ अपनी गिरिधर गोपाल जी की मूर्ति को भी अपनी ससुराल में ले गईं।

विघ्न-बाधाओं का सामना

पति की मृत्यु के बाद उनको लोगों ने वैरागिनी के रूप में देखा। वह दिन-रात अपने गिरिधर की पूजा में निमग्न रहतीं राणा साँगा की मृत्यु के बाद चित्तौड़ की गद्दी पर राणा दित्य बैठे। वह एक बड़े कड़े स्वभाव के मनुष्य थे। उन्हीं के मीरा को और भी अधिक संकटों का सामना करना पड़ा।

उन दिनों मेवाड़ में रैदास भक्त की बड़ी प्रसिद्धि थ उनके भक्ति-रस के पद घर-घर गाये जाते थे। मीरा ने भी ही का आश्रय लिया और उन्हें अपना गुरु भी मान लिया। की कृष्ण-भक्ति का मीरा पर और भी अधिक प्रभाव पड़ा। वे लोक-लाज की परवाह न कर साधु-सन्तों से मिलने .. क्रमश: उनके दरवाजे पर नित्य साधु सन्तों की भीड़ रहने लगी। मीरा उन्हें भोजन करातीं और दान-पुण्य भी करतीं। कभी-क मीरा गिरिधर के मन्दिर में चली जातीं और वहां बहुत देर तक नाचा करतीं और भजन गाती रहतीं।

राणा विक्रमादित्य को मीरा का यह भक्ति-नाटक बहुत बुरा लगा और वह इसे अपने राजवंश की प्रतिष्ठा को गिराने वाला समझने लगे। पहले उन्होंने मीरा को समझाने के लिए सहेलियाँ नियुक्त कीं, जो मीरा को भक्ति-मार्ग से हट जाने के लिए दिन-रात समझाने लगीं। मीरा ने एक दिन अपनी इन सहेलियों से कहा—

पति की मृत्यु

विवाह हो जाने के बाद मीरा अपनी ससुराल में गईं। वहाँ भी दिन-रात पूजा-पाठ में लीन रहतीं, गिरिधर गोपाल की मूर्ति के सामने बैठकर उनके प्रेम और उनकी भक्ति में पद बनाया करती थीं। मीरा जब पूजा-पाठ से निपटतीं, तब अपने पति भोजराज की सेवा करतीं। वे गोपाल जी की पुजारिन होने के साथ-साथ अपने पति की भी सच्ची पुजारिन थीं।

विवाह के कुछ वर्ष बाद उनको भारी विपत्तियों का सामना करना पड़ा। सास-ससुर की मृत्यु हो गई। इतना ही नहीं, मीरा को पति के सुख से भी वंचित होना पड़ा क्योंकि थोड़े ही दिनों बाद मीरा को अकेली छोड़कर उनके पतिदेव भी चल बसे। पति की मृत्यु से मीरा के कोमल हृदय को गहरी चोट पहुँची। परिणामतः उनका रहा-सहा मोह-ज्ञान भी नष्ट हो गया और उनके हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गई। दो वर्ष बाद उनके पिता रत्नसिंह भी खनवा के युद्ध में बाबर से लड़ते हुए मारे गये। इस प्रकार पति, सास ससुर और पिता की मृत्यु से मीरा ने समझ लिया कि संसार में मनुष्य का जीवन मिट्टी के खिलौने ही के समान है। मीरा के हृदय में संसार की मोह-ममता बाकी नहीं रही। उनके हृदय में वैराग्य की ज्योति जल उठी और वह अब अपने गिरिधर गोपाल जी के मन्दिर में रहतीं और सदा भजन-कीर्तन करने लगीं। उनका भजन-पूजन का ढंग और भी अधिक प्रबल हो उठा।

विघ्न-बाधाओं का सामना

पति की मृत्यु के बाद उनको लोगों ने वैरागिनी के रूप मे देखा। वह दिन-रात अपने गिरिधर की पूजा मे निमग्न रहतीं। राणा साँगा की मृत्यु के बाद चित्तौड़ की गद्दी पर राणा विक्रमादित्य बैठे। वह एक बड़े कड़े स्वभाव के मनुष्य थे। उन्हीं के कारण मीरा को और भी अधिक संकटों का सामना करना पड़ा।

उन दिनों मेवाड़ में रैदास भक्त की बड़ी प्रसिद्धि थी और उनके भक्ति-रस के पद घर-घर गाये जाते थे। मीरा ने भी रैदास ही का आश्रय लिया और उन्हे अपना गुरु भी मान लिया। रैदास की कृष्ण-भक्ति का मीरा पर और भी अधिक प्रभाव पड़ा! अब वे लोक-लाज की परवाह न कर साधु-सन्तों से मिलने लगीं। क्रमशः उनके दरवाजे पर नित्य साधु-सन्तों की भीड़ रहने लगी। मीरा उन्हे भोजन करातीं और दान-पुण्य भी करतीं। कभी-कभी मीरा गिरिधर के मन्दिर मे चली जातीं और वहाँ बहुत देर तक नाचा करतीं और भजन गाती रहतीं।

राणा विक्रमादित्य को मीरा का यह भक्ति-नाटक बहुत बुरा लगा और वह इसे अपने राजवंश की प्रतिष्ठा को गिराने वाला समझने लगे। पहले उन्होंने मीरा को समझाने के लिए सहेलियाँ नियुक्त कीं, जो मीरा को भक्ति-मार्ग से हट जाने के लिए दिन-रात समझाने लगीं। मीरा ने एक दिन अपनी इन सहेलियों से कहा—

कोई कहे मीरा हो गई पागली,
मैं तो श्याम रंग राची।

भक्ति से मीरा के सराबोर शरीर पर उस हालाहल विष का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। जब राणा विक्रमादित्य को यह बात मालूम हुई, तब उन्हें अत्यन्त आश्चर्य तो हुआ, परन्तु इससे भी उनका क्रूर-हृदय विचलित नहीं हुआ। वे मीरा को मार डालने के निश्चय पर दृढ रहे और कुछ ज़हरीले साँपों को एक पिटारी मे बन्द कर उन्होंने उपहार-स्वरूप मीरा के पास भेज दिया।

प्रेम और भक्ति की दीवानी मीरा! उनका स्पर्श ही विष को अमृत और हिंसक प्राणियों को पालतू बना देता! इन साँपों का भी मीरा पर तनिक प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने मीरा को डसा ही नहीं। किन्तु राणा बराबर निरपराध मीरा पर अत्याचार करते रहे। मीरा भी अब ऊब उठी। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के पास पत्र के रूप में अपना एक पद भेजकर प्रार्थना की कि अब बताइए, क्या करना चाहिए? उन्होंने लिखा—

श्री तुलसी सुख-निधान, दुख हरन गुँसाई।
बार हि बार प्रनाम करूँ अब हरो शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबनि उपाधि बढाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेश महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हों, गिरिधर लाल मिताई।
सो तौ अब छूटति नाहिं क्यू ही, लगी लगन बरियाई॥

मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई॥

गोस्वामी जी ने उन्हें अपने पत्र में आश्वासन दिया और भक्ति पर दृढ़ रहने पर ज़ोर दिया और लिखा—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

चित्तौड़ से विदा

मीरा की यात्रा

अब मीरा बिलकुल संन्यासिनी बन गई और अपने काका के घर को भी छोड़कर चल दीं। अब उसे किधर जाना है, पता नहीं, पर वह चली जाती हैं। नगर-नगर, गाँव-गाँव, गली-गली, वन-उपवन, नदी-झरने, पहाड़-घाटी पार करती हुई जा रही हैं। रात-रात दिन-दिन चलती हैं। पैरों मे छाले पड गये हैं। शरीर काँटों से जर्जरित और लहू-लुहान हो गया है परन्तु उसकी गति तेज़ है, और उसके हृदय मे अमिट भक्ति भरी हुई है। वह किस लिए और कहाँ जा रही है, इस समय तक इतना भी उसे पता नहीं। असहाय और निर्दोष मीरा, भक्ति की भिखारिणी मीरा, संकटों की शिकार मीरा, वही मीरा जिसे माता ने प्यार से गोदी मे पाला, पिता ने पुत्र से भी अधिक स्नेह से रक्खा, पति ने उसमे ही अपने को पाया, वही राजनन्दिनी, वही राजरानी मीरा, वही महलों मे रहने वाली मीरा आज पथ-पथ मे भटक रही है परन्तु फिर भी वह विचलित नहीं है। उसकी भक्ति अब हिमालय की भाँति उच्च और अटल है। अपने पदों को सुमधुर स्वरों में गाती हुई वह चली जा रही है। उस विश्वमोहिनी कविता को सुनकर, संगीत मे तन्मय हो मोर-मयूरी नाच उठते, मृग-मृगी उसके पैरों के पास आकर खिलवाड़ करने लगते, पक्षी नीरव होकर उसका संगीत सुनते। यही वह काव्य-मूर्ति मीरा है, यही वह मरुस्थल की मन्दाकिनी है। वन में वह लताओं को छूकर गाती है—

मन रे परसि हरि के चरण,
सुभग शीतल कमल कोमल त्रिविध ज्वाला हरन।

जब वह वृन्दावन में पहुँचती हैं, तब यमुना के किनारे जाकर यह गाती हैं—

नन्द नन्दन बिलमाई,
बदरा ने घेरि आई;
इत घन गरजै उत घन गरजै,
चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिशि से आवत,
पवन चलत पुरवाई,
दादुर मोर पपीहा बोलत,
कोयल शब्द सुनाई।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर,
चरण कमल चित लाई।

उन्हीं दिनों वृन्दावन में गोस्वामी तुलसीदास भी रहा करते थे। उन्होंने मीरा को बड़े आदर-सत्कार से रक्खा। कुछ दिन मीरा वृन्दावन में रहीं। वह नाना उपाय से मन को समझाती, पर मन नहीं समझा। मीरा के मन की अशान्ति बढ़ती गई और गिरिधर गोपाल के दर्शनों के लिए वह व्याकुल हो उठीं। उनका कहना था—

तुम्हरे कारण सब सुख छोड़्या,
अब मोहिं क्यूँ तरसाओ।

अब छोड़्याँ नहिं बनै प्रभू जी,
चरण के पास बुलाओ ॥
विरह विथा लागी उर अन्दर,
(प्रभुजी) सो तुम आप बुझाओ ।
मीरा दासी जनम-जनम की,
(प्रभुजी) मम चित्त सूँ चित्त लगाओ ॥

वृन्दावन मे कुछ दिन रहकर मीरा द्वारिका चली गईं और वहीं साधु-सन्तों तथा रणछोड़ जी की सेवा में दिन बिताने लगीं । इधर चित्तौड़ पर एक के बाद एक विपत्ति आई और राणा ने समझा कि यह निर्दोष मीरा को सताने का ही परिणाम है । उसे बडा पश्चात्ताप हुआ और मीरा को घर वापस बुलाने के लिए उसने बहुत-से संदेशवाहक ब्राह्मणों को भेजा । उन्होंने द्वारिका पहुँचकर मीरा से चित्तौड़ वापस चलने की प्रार्थना की । पर मीरा ने चित्तौड़ आना स्वीकार नहीं किया । मीराबाई का द्वारिका मे ही देहान्त हुआ । आज संसार में मीरा का स्थूल शरीर भले ही नहीं है, किन्तु युगयुगान्त तक वह अपनी भक्ति, अपने दिव्य-चरित्र और अपनी विश्वमोहिनी कविता के कारण अमर रहेगी ।

सती चन्दनबाला

जैनियों के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के जीवनकाल में चम्पापुर नामक नगर मे दधिवाहन नामक राजा राज्य करता था। उसकी धारणी रानी और शीलशिरोमणि चन्दन-बाला नामा पुत्री थी। उसी काल में कौशाम्बी नगरी, जहाँ भगवान् ने अभिग्रह ग्रहण किया था, के अधिपति शतानीक महाराज थे। किसी कारण दधिवाहन और शतानीक राजा मे परस्पर विरोध हो गया।

एक समय शतानीक राजा अपना कटक सज्जित करके संग्राम के लिए चम्पा नगरी पर चढ आया। उस संग्राम में सहस्रों पुरुषो का वध हुआ। नदियों रुधिर बहने लगा। अस्थियों की राशियाँ लग गई। अंत में शतानीक राजा ने जय प्राप्त करके नगर लूटने की आज्ञा दी।

व्याकुलता हुई और उसके यह अध्यवसाय हुए—'मैं ऐसी निर्भागिनी हूँ, जो ऐसे सुपात्र तपस्वी को आहार न दे सकी।' इस तरह वह अपने पूर्वकृत पापों का पश्चात्ताप करके अश्रुपात करने लगी।

उसकी ऐसी दशा देखकर और अपने अभिग्रह को पूर्ण हुआ जान भगवान् ने लौटकर उससे शुद्ध प्रासुक आहार ग्रहण किया। यह प्रतिज्ञा पाँच दिन कम छः मास मे सम्पूर्ण हुई अर्थात् भगवान् को पाँच दिन न्यून छः मास पीछे अभिग्रह के अनुसार यह उड़द-आहार मिला, जिससे आपने इस घोर अभिग्रह की पारणा की।

ऐसा शुद्ध आहार ऐसे सुपात्र को देने से वहाँ देवों ने साढ़े बारह कोटि सुवर्णों की दिव्य वर्षा की और चन्दनबाला की बेड़ियाँ काट दीं तथा उसके शरीर को अलंकृत कर दिया। पश्चात् राजा ने उसके पास आकर बड़े आदर से कहा—'हे कन्ये! तू धन को ग्रहण कर और मैं तेरा विवाह किये देता हूँ।' परन्तु चन्दनबाला ने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया तथा उत्तर मे राजा से कहा—'महाराज, मैं विवाह न कराऊँगी परन्तु जब तक भगवान् को केवल ज्ञान न उत्पन्न होगा, तब तक मैं संसार मे श्राविका की वृत्ति में रहूँगी। पश्चात् दीक्षा ग्रहण करूँगी।'

श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बाकुलों का आहार-दान लेकर वहाँ से विहार कर गये। और चन्दनबाला कौशाम्बी नगरी के महाराजाधिराज शतानीक के यहाँ चली गई। वह वहीं रहने लगी। उसका आशय यही था कि जब भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञता

सम्मुख रख दिये और कहा—'पुत्री ! तू अभी इनको खा। मैं तेरे लिए मिष्ठान्न तथा जंजीर काटने के लिए लोहकार को लाता हूँ।' यह कहकर वह चला गया।

तब चन्दनबाला भोरे के द्वार में देहली पर बैठकर तथा एक पग अन्दर और एक पग बाहर करके उड़द खाने लगी।

अभी खाने न पाई थी कि श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरते घूमते हुए वहाँ आ गये। उन्होंने लगभग छः मास से पारणा न किया हुआ था। उनका अभिग्रह था कि 'कोई राजकन्या चौखट पर बैठी हो, एक पग अन्दर और एक बाहर हो, राजकन्या होने पर भी दासी बनी हुई हो, पैरों में बेड़ी हो, सिर मुंडा हो, भूखी भी हो और रोती भी हो। ऐसी अवस्था में यदि वह भिक्षा देगी तभी भिक्षा ग्रहण करूँगा और व्रत की पारणा करूँगा।'

भगवान् के दर्शन करके चन्दनबाला परम हर्षित होकर इस प्रकार बोली—'हे स्वामिन ! मेरे से यह आहार शुद्ध [illegible] ग्रहण कीजिए।'

इस प्रकार के वचन सुनकर भगवान् ने अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण किया तो विचार हुआ कि अभी तक मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि यह कन्या हँसती तो है किन्तु रोती नहीं है। [illegible] लौट गये। तब भगवान् आहार के लिए [illegible] अन्तर्ध्यान हो गये [illegible] और

व्याकुलता हुई और उसके यह अध्यवसाय हुए—'मैं ऐसी निर्भागिनी हूँ, जो ऐसे सुपात्र तपस्वी को आहार न दे सकी।' इस तरह वह अपने पूर्वकृत पापों का पश्चात्ताप करके अश्रुपात करने लगी।

उसकी ऐसी दशा देखकर और अपने अभिग्रह को पूर्ण हुआ जान भगवान् ने लौटकर उससे शुद्ध प्राशुक आहार ग्रहण किया। यह प्रतिज्ञा पाँच दिन कम छः मास में सम्पूर्ण हुई अर्थात् भगवान् को पाँच दिन न्यून छः मास पीछे अभिग्रह के अनुसार यह उड़द-आहार मिला, जिससे आपने इस घोर अभिग्रह की पारणा की।

ऐसा शुद्ध आहार ऐसे सुपात्र को देने से वहाँ देवों ने साढ़े बारह कोटि सुनइयों की दिव्य वर्षा की और च[illegible] बेड़ियाँ काट दीं तथा उसके शरीर को अलंकृत कर दिया। राजा ने उसके पास आकर बड़े आदर से कहा—'हे कन्ये! [illegible] को ग्रहण कर और मैं तेरा विवाह किये देता हूँ।' परन्तु च[illegible] ने यह प्रस्ताव स्वीकार न किया तथा उत्तर में राजा से कहा: 'महाराज, मैं विवाह न कराऊँगी परन्तु जब तक भगवान् को ज्ञान न उत्पन्न होगा, तब तक मैं संसार में श्राविका की वृत्ति में रहूँगी। पश्चात् दीक्षा ग्रहण करूँगी।'

श्री श्रमण भगवान् महावीर स्वामी बाकुलों का आहार-दान लेकर वहाँ से विहार कर गये। और चन्दनबाला कौशाम्बी नगरी के महाराजाधिराज शतानीक के यहाँ चली गई। वह वहीं रहने लगी। उसका आशय यही था कि जब भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञता

देखकर चन्दनबाला को भी पता लगा कि भगवान् को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है। तब वह तुरंत उनके व्याख्यान-मण्डप मे गई और उनके चरणों मे दीक्षित होकर साध्वी हो गई। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी थी, इसलिए भगवान् ने उसे शिष्या-समुदाय की आचार्या पद पर प्रतिष्ठित किया। कई राजाओं और राजामात्यों की कन्याएँ भी, जो चन्दनबाला की सहेली बन गई थीं, उसके साथ दीक्षित हो गई।

भारती

स्वामी शंकराचार्य जिस समय हिंदू-धर्म को बौद्ध-धर्म के प्रभाव से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील थे और अपने वेदांत मत का प्रतिपादन करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे, उस समय अपने धर्म-प्रचार के कार्य में उन्हें एक स्त्री से बहुत सहायता मिली थी। यह स्त्री और कोई नहीं, उस समय के एक बड़े भारी बौद्ध विद्वान् पंडित मण्डनमिश्र की पत्नी भारती देवी थीं, जो अपने समय की एक महान् विदुषी स्त्री हो चुकी हैं।

भारती के पाण्डित्य का प्रदर्शक एक उदाहरण सर्व-विदित है। एक बार मण्डनमिश्र के साथ शंकराचार्य का शास्त्रों-सम्बन्धी वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ। शास्त्रार्थ से पहले शंकराचार्य ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि शास्त्रार्थ मे मेरी हार हुई तो मैं संन्यास

विस्मित हुए, लेकिन उसकी वात को टाल न सके। अंत मे शङ्कराचार्य और भारती के वीच शास्त्रार्थ शुरू हुआ। भारती प्रश्न करने लगी और शङ्कराचार्य उत्तर देने लगे। पश्चात् शङ्कराचार्य ने प्रश्न शुरू किये और भारती उत्तर देने लगी। इस प्रकार रात-दिन शास्त्रार्थ होते हुए महीनों वीत गये, लेकिन न तो शङ्कराचार्य थके और न भारती ही थकी। भारती का पाण्डित्य, धैर्य एवं अध्यवसाय देखकर शङ्कराचार्य स्तम्भित हो गये, और मन-ही-मन सोचने लगे कि मैंने शास्त्रार्थ तो वहुतेरे पण्डितों के साथ किया है, लेकिन ऐसा भारी शास्त्रार्थ तो आज तक किसी के साथ नहीं हुआ। भारती एक भी प्रश्न वाकी नहीं छोडती थी। एक युक्ति पूरी हुई नहीं कि तुरन्त दूसरी तय्यार रहती। मगर शङ्कराचार्य भी कुछ कम विद्वान् नहीं थे, इसलिए उन्हे हरा सकी। आखिर भारती ने कामशास्त्र-संबंधी प्रश्न आर तव शङ्कराचार्य ने कहा—'मैं संसार-त्यागी हूँ। क किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं है।'

शास्त्रार्थ के वाद मण्डनमिश्र, अपनी प्रतिज्ञा के शङ्कराचार्य के शिष्य हो गये। पतिव्रता भारती देवी ने भी पति का ही अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वोक्त शास्त्रार्थ में होकर शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र को ही प्राप्त नहीं किया भारती देवी जैसी विदुषी स्त्री को भी अपने पक्ष में कर लिया।

शङ्कराचार्य के काम में भारती जैसी स्त्रियों का सहयोग कितना उपयोगी हो सकता था, यह वतलाने की आवश्यकता नहीं।

भारती ने सच्चे हृदय से अपना कर्तव्य पालन किया और अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह शङ्कराचार्य के कामकाज में ही लगी रही। शङ्कराचार्य भी उसकी क़द्र जानते थे। यहाँ तक कि शृंगेरी में उन्होंने उसके लिए एक मन्दिर भी बनवा दिया था, जहाँ उसने अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत किये थे।

—'भारत के स्त्री रत्न' से

नूरजहाँ

संसार मे जिन स्त्रियो ने अपनी सुन्दरता और चतुरता के कारण ऊँचा स्थान पाया है, उनमे नूरजहाँ का स्थान सर्व है। नूरजहाँ महत्त्वाकांक्षा की मूर्ति थी। दश वर्ष तक अपने पति जहाँगीर के नाम पर इसने भारत जैसे विशाल-साम्राज्य पर शासन किया।

नूरजहाँ खुरासान के बादशाह बिगलोर बेग के मन्त्री ख्वाजा मुहम्मद शरीफ़ के पुत्र ग़यासबेग की लड़की थी। ग़यासबेग की दशा बहुत अबतर हो गई थी। खाने तक के लिए उसके पास कुछ न था। आजीविका की खोज में वह अपनी गर्भवती पत्नी और एक छोटे पुत्र को साथ लेकर भारतवर्ष की ओर रवाना हुआ। खुरासान से भारतवर्ष आते हुए उन दिनों मरुस्थल के मार्ग से आना पड़ता था। मरुस्थल पार करते हुए ग़यासबेग भूख से इतना घबराया कि वह मौत मनाने लगा। पर पत्नी के सूखे होठों को

कबूतर मिहरुन्निसा को पकड़ा दिये और स्वयं फूल लाने चला गया। कबूतर फड़फड़ाने लगा और उड़ गया। सलीम जब वापस आया तो उसने अपना कबूतर माँगा। मिहरुन्निसा ने कहा कि कबूतर उड़ गया। सलीम ने पूछा—'किस तरह ?' तब मिहरुन्निसा ने दूसरा कबूतर उड़ाकर कहा—'ऐसे !' सलीम उत्तर पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और मिहरुन्निसा से प्रेम करने लगा।

सलीम धीरे धीरे मिहरुन्निसा पर आसक्त हो गया। अकबर को जब मालूम हुआ कि सलीम मिहरुन्निसा से प्रेम करता है तो वह बड़ा अप्रसन्न हुआ। अकबर ने मिहरुन्निसा का विवाह अलीकुली खाँ नामक एक वीर योद्धा और सुन्दर युवक के साथ कर दिया और उसे ढाका का गवर्नर बनाकर भेज दिया। सलीम के यौवन की पहली उमंग इस प्रकार मन मे रह गई।

अकबर के बाद सलीम जहाँगीर के नाम से बादशाह हुआ। सलीम मिहरुन्निसा को भूला नहीं था। अब उसने अपना मार्ग साफ़ पाया। अलीकुली ने अपने शेर को बिना हथियार के मार दिया था, इस कारण उसका नाम शेर अफ़ग़न हो गया था। जहाँगीर ने शेर अफ़ग़न को दिल्ली बुलाया किंतु उसने इसमें अपना अपमान समझ विद्रोह कर दिया। फिर कुतुबुद्दीन खाँ को जहाँगीर ने शेर अफ़ग़न को पकड़ने भेजा। धोखे से पकड़ने के लिए कुतुबुद्दीन ने शेर अफ़ग़न को बुलाया। शेर अफ़ग़न को क़ैद करते हुए कुतुबु-द्दीन मारा गया। चारों ओर खड़ी सेना ने शेर अफ़ग़न को भी मार दिया। जहाँगीर ने शेर अफ़ग़न पर कुतुबुद्दीन को मारने का

बन्दूक का अचूक निशाना लगाती थी। इसके अतिरिक्त वह दिलेर और वीर स्त्री थी। विपत्ति से कभी भी नहीं घबराती थी।

इतने गुणों के साथ उसमें डाह ज्यादा था। वह किसी की बात नहीं सह सकती थी। नूरजहाँ अपने दामाद शहरयार को गद्दी दिलाना चाहती थी, पर गद्दी का अधिकार खुर्रम-शाहजहाँ का था। शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। नूरजहाँ ने महाबतखाँ को भेजकर शाहजहाँ को हरा दिया और क्षमा माँगने पर विवश किया। महाबतखाँ की बढ़ती और उसके प्रभाव को फैलते देखकर नूरजहाँ ने महाबतखाँ को पकड़वाना चाहा। महाबतखाँ समझ गया। शाहजहाँ और महाबतखाँ दोनों मिल गये। शाही सेना इन दोनों से हार गई। यहाँ तक कि सम्राट् जहाँगीर महाबतखाँ के हाथ कैद हो गया। नूरजहाँ उसे लड़कर नहीं छुड़ा सकी इसलिए उसने आत्म-समर्पण कर दिया और जहाँगीर के साथ कैद हो गई। नूरजहाँ ने अपने चातुर्य और साहस से जहाँगीर को कारावास से छुड़ा दिया।

जहाँगीर के मरने के बाद शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। अब नूरजहाँ महलों में राज्य से सब प्रकार का सम्बन्ध त्याग कर रहने लगी। जहाँगीर नूरजहाँ के लिए कहा करता था, कि शराब के एक प्याले के बदले मैंने सारा राज्य इसको सौंप दिया है। नूरजहाँ के प्रयत्न से जहाँगीर की शराब पीने की आदत भी कम हो गई थी।

जहाँगीर के मरने पर उसकी लाश लाहौर में जहाँगीर के मकबरे के पास दफना दी गई। नूरजहाँ-सी विलक्षण, तेज और शक्तिशालिनी स्त्रियाँ भारत के इतिहास में बहुत कम हुई हैं।

सुल्ताना रज़िया

दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाली यह पहली स्त्री है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई स्त्री दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठी। दिल्ली की राजगद्दी पर जितने राजा बैठे हैं, उनमें से कुछ ही प्रतिभा, योग्यता और राजसी गुणों में रज़िया की समता कर सकते हैं।

रज़िया सुल्तान अल्तमश की कन्या थी। अल्तमश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इसको योग्य और चतुर देखकर कुतुबुद्दीन ने अपनी लड़की अल्तमश को ब्याह दी। कुतुबुद्दीन के मरने पर दिल्ली की राजगद्दी पर अल्तमश बैठा। अल्तमश अपनी सब सन्तानों में से रज़िया को अधिक प्यार करता था। रज़िया की शिक्षा की उसने पूर्णरूप से व्यवस्था की थी। रज़िया घोड़े की सवारी और तीर-तलवार चलाने में बहुत निपुण थी। राज-काज की बातें खूब समझती थी।

होते ही कुछ सरदारों ने विद्रोह किया पर उसको उसने अपने चातुर्य और बल से दमन कर दिया।

रजिया अविवाहिता थी। प्रत्येक सरदार चाहता था कि रजिया उससे विवाह कर ले। पर रजिया इनमे से किसी को न चुनकर एबिसीनिया के हब्शी सरदार जमालुद्दीन याकूत का दिन-प्रति-दिन आदर करने लगी। जमालुद्दीन बडा पराक्रमी नीति-निपुण था। पर वह एक तो हब्शी था, दूसरे गुलाम रह था। याकूत का आदर सरदार लोग सह न सके और भटिण्डे सरदार अलतूनिया के नेतृत्व मे सब ने मिलकर रजिया के पुन' विद्रोह कर दिया। रजिया याकूत की बगल में घोड़े पर सवार होकर वीरता से लड़ी पर अंत में हार गई। याकूत मारा गया और रजिया क़ैद कर ली गई। अलतूनिया ने एक दिन रजिया से कहा—'यदि तुम मुझसे विवाह कर लो तो मैं तुम्हारी ओर से लड़ूँगा'। रजिया ने बात मान ली। पर इस बार भी रजिया की हार हुई और दोनों मार दिये गये।

इस प्रकार तीन वर्ष राज्य करने के बाद युवावस्था में ही रजिया ने समय के प्रतिकूल होने के कारण संसार छोड दिया। रजिया में सब गुण थे, पर वह स्त्री थी; और स्त्री के अधीन रहना उस युग में कल्पना से बाहर की बात थी। इस कारण उसकी योग्यता, प्रतिभा और शासन-चातुरी कोई भी देश के काम न आई।

रानी पद्मिनी

भारतीय महिलाओं मे रानी पद्मिनी का स्थान बहुत ऊँचा है। हमारे देश मे जब तक सतीत्व और वीरता की पूजा होगी, तब तक पद्मिनी की भी पूजा होती रहेगी। पद्मिनी केवल एक आदर्श सती वीर रमणी ही नहीं थी, वरन् एक चतुर और बुद्धिमती महिला भी थी, जिसने अपने पति को कारावास से मुक्त कराकर अलाउद्दीन खिलजी जैसे धूर्त्त सम्राट् को नीचा दिखाया था।

मेवाड का राणा लक्ष्मणसिंह बालक था। उसकी जगह उसका चचा राणा भीमसिंह मेवाड के सिंहासन पर बैठा। इसकी रानी पद्मिनी बहुत सुन्दरी थी। इसकी सुन्दरता की चर्चा घर-घर पहुँची हुई थी। दिल्ली का बादशाह अलाउद्दीन खिलजी पंजाब और गुजरात पर विजय प्राप्त कर चुका था। उसका सेनापति काफूर दक्षिण में कावेरी तक अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था। पर

लिए एक उपाय सोचा। उसने कहला भेजा कि रानी आने को तैयार है, पर वह आयगी राजपूत महारानी की तरह अपनी सहेलियों और दासियों के साथ। खिलजी की मुँहमाँगी इच्छा पूरी हुई। इस शर्त को उसने मान लिया। रानी ने ६०० पालकियाँ और डोले सजाने के लिए आज्ञा दी। प्रत्येक में एक एक राजपूत योद्धा हथियारों से लैस होकर स्त्री-वेश में बैठ गया। उठाने वाले भी योद्धा राजपूत थे। प्रत्येक डोले को ६ राजपूत कहार बनकर उठा रहे थे। रानी इस तरह तैयार होकर खिलजी के डेरो की ओर चली। इन पालकियों के लिए अलग कनात लगी हुई थी, वहीं उतारी गई। रानी ने कहला भेजा कि महलों में आने से पहले मुझे राणा से अन्तिम बार मिलने की आज्ञा दी जाय। यह प्रार्थना स्वीकृत हो गई और राणा के पहुँचते ही रानी पद्मिनी उनको साथ लेकर चित्तौड़ चल दी। दो घोड़े तैयार खड़े थे और वे दोनों घोड़ों पर चढ़ किले की ओर चल दिये। आधा घंटा बीत गया। खिलजी घबराने लगा। और उसने तुरन्त पालकियों की तलाशी लेने की आज्ञा दी। इतने मे राजपूत तलवारें निकाल खड़े हो गये। अलाउद्दीन घबरा गया। खूब डटकर घमासान युद्ध हुआ। गोरा और बादल अपार वीरता से लडे। गोरा लड़ता हुआ मारा गया। इधर राणा भीमसिंह दुर्ग में पहुँच गये। मुसलमानों ने करारी हार की चपत खाई। युद्ध-क्षेत्र से जब बादल लौटा तो उसकी चाची चिता तैयार कर उसके आने की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने पूछा—'बेटा, कहो तुम्हारे चचा ने कैसी लडाई लड़ी ?' बारह वर्ष का बादल आवेश और उत्साह से बोला—'माँ, क्या बखान करूँ ? खेत

महारानी कर्णावती

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड के राजसिंहासन पर विक्रमाजीतसिंह बैठा। राणा और सरदारों मे परस्पर अनबन थी। सब सरदार राणा से अप्रसन्न हो गये। मेवाड में अराजकता छाई हुई थी। उस समय गुजरात मे बहादुरशाह शासन करता था। उसने मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए इस अवसर को बहुत अनुकूल समझा। हुमायूँ इस समय बंगाल में शेरशाह का पीछा कर रहा था। राणा सांगा ने बहादुरशाह को अनेक बार रण मे पराजित किया था। इसलिए बहादुरशाह अपनी पुरानी हार का बदला चुकाने के लिए मेवाड़ पर चढ़ आया।

राणा विक्रमाजीत ने बहादुरशाह का चित्तौड के बाहर सामना किया। सरदारों ने राणा का साथ न दिया। इसलिए राणा हार गये। इस विजय से बहादुरशाह का साहस और भी बढ़ा। उसने आगे बढ़कर

हुमायूँ ठीक समय पर मेवाड पहुँच नहीं सका। मेवाड के वीरों के सामने दो मार्ग थे—या तो वे लड़कर प्राण दे दे और स्त्रियाँ जौहर करें अथवा बहादुरशाह की अधीनता स्वीकार करें। मेवाड़ का रक्त ठंडा नहीं हुआ था। अधीनता जीते जी वे स्वप्न में भी स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। राजपूतों ने केसरिया बाना पहन लिया। दूसरी ओर अन्तिम बार पिता, भाई और पति से गले मिलकर राजपूत-बालाएँ जौहर की तैयारी करने लगी। टूटी दीवार से बाढ़ के पानी के समान क़िले मे मुसलमान बढ़े चले आ रहे थे। ऐसे अवसर पर चिता बनाने का समय कहाँ था। पहाडी गुफ़ाओं मे बारूद भर दी गई और १३००० राजपूतवीराङ्गनाएँ बारूद के ढेर पर खुशी खुशी पहुँच गईं। बीच मे महारानी कर्णावती बैठी थीं। बारूद मे वीराङ्गनाओं ने अपने हाथ से तीली दी। एक बड़े धडाके के साथ एक प्रकाश आकाश मे उठा। उस लपक मे १३००० वीर आत्माएँ जल गईं।

शेष राजपूत तलवारें लेकर भूखे शेर के समान मुसलमानों पर टूट पडे। सैकडों को मारता हुआ हर एक वीरगति को प्राप्त हुआ। और अन्त मे बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। इस तरह चित्तौड की रक्षा मे ३२००० राजपूत काम आये।

राखी का भारत मे बहुत महत्त्व है। बहने भाई को राखी बाँधती हैं और इसके बदले भाई अपनी जान देकर भी रक्षा का वचन देता है। हुमायूँ बंगाल मे अपने पिता बाबर के शत्रु राणा सांगा की महारानी कर्णावती की राखी पाकर प्रसन्नता के मारे

पन्ना दाई

स्वामि-भक्ति और आत्मदान का जैसा अनुपम उदाहरण पन्ना ने अपने जीवन से संसार के सम्मुख रक्खा है, वैसा दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास में मिलना कठिन है। राजपूत-बाला पुरुषों से किसी अंश में भी कम नहीं। समय आने पर उदारता, वीरता और धैर्य एवं उत्साह के साथ वे अत्यन्त हर्षपूर्वक अपना सर्वस्व अर्पण कर सकती हैं। यह बात पन्ना के जीवन से सुस्पष्ट होती है।

महाराणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की गद्दी पर विक्रमाजीतसिंह बैठा। पर वह बड़ा अत्याचारी था। सब सरदार उससे अप्रसन्न हो गये। इसलिए उन्होंने उसे गद्दी से उतारकर बनवीर को गद्दी पर बिठाया। इस समय मेवाड़ का वास्तविक उत्तराधिकारी उदयसिंह केवल छः वर्ष का था। बनवीर राज्य पाकर

पन्ना के हृदय मे जो आँधी और तूफ़ान चल रहा था, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? जान-बूझकर अपने दुध-मुँहे बच्चे को तलवार की भेंट कर देना हँसी-मजाक नहीं । इसके लिए हृदय की अनुपम दृढता, वीरता और साहस चाहिए । उमडते हुए आँसुओं और हृदय के प्रवल वेग को रोके हुए पन्ना बैठी थी। इसी समय वनवीर हाथ मे नंगी तलवार लपलपाता हुआ अन्धकार को और भी अधिक घना वनाता हुआ वहाँ पहुँचा। मुखाकृति इस समय वड़ी डरावनी और भयङ्कर रूप धारण किए थी। आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं। वह दाँत था। उसको इस समय इस दशा मे देखकर वीर पुरुष काँप जाना सम्भव था।

हवा के तेज झोंके के समान वनवीर राजकुमार के कमरे में घुसा और तीक्ष्ण स्वर मे पूछा—'उदयसिंह कहाँ है ?' वनवीर का यह प्रश्न सुनकर स्तब्ध रह गई, वोली नहीं। दुबारा फिर वनवीर ने पैर पटककर पूछा—'वोलती क्यो नहीं, राजकुमार कहाँ है ?' पन्ना ने उमडते हुए आँसुओं और धडकते हृदय प्रवल वेग को रोककर अपना मुँह फेर लिया और अँगुली से पलं पर लेटे हुए अपने पुत्र की ओर संकेत कर दिया।

वनवीर ने न देखा न भाला और तुरंत तलवार के एक प्रहार से वालक का काम-तमाम कर दिया। महल मे कुहराम मच गया। पन्ना महल के कुहराम के वीच ही चुपके से महल के बाहर हो गई और अपने अधूरे काम को पूरा करने के लिए चल पड़ी

रणचण्डी जवाहर

राणा संग्रामसिंह जी के जीवन-काल मे बाबर ने दो बार मेवाड़ पर आक्रमण किया, पर उस नरकेसरी के सम्मुख उसे पराजय का ही मुँह देखना पडा। राणा संग्रामसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसने एक बार पुनः चित्तौड पर आक्रमण करने का इरादा किया और बडी विशाल सेना लेकर चढ़ाई कर दी। राणा संग्राम-सिंह का पुत्र रत्नसिंह अभी एक अबोध बालक ही था। अतः राज-काज सब राजमाता जवाहर के हाथ मे रहा। पिछले युद्धों में चित्तौड़ के चुने-चुने वीर मारे जा चुके थे, इसलिए बाबर के इस आक्रमण से राजमाता को बड़ी चिन्ता हो गई। उधर नागरिकों ने भी जब इस तीसरे आक्रमण का समाचार सुना तो वे बहुत घबराये। बहुत सोच-विचारकर उन्होंने यह निर्णय किया कि स्त्रियों और बच्चों को पर्वतों की कन्दराओं में कहीं जाकर छिपा दिया जाय। यथा-समय महारानी जवाहर को भी उनके इस निश्चय का ज्ञान हो गया।

तलवारें निकालकर एक स्वर से कहा—'राजमाता की जय वीरजननी महारानी की जय !!' और इसके बाद सब ।[illegible] अपने अपने घरों को लौट गये। राजमाता को और अधिक [illegible] की आवश्यकता नहीं पडी। वह अपना कर्तव्य पालन कर [illegible] महलों को लौट गई।

कुछ ही समय के पश्चात् राजमाता के महलों के सन्मुख नागरिकों की भीड लगनी प्रारम्भ हुई। देखते देखते वहाँ नरमुण्डों का समुद्र-सा लहराने लगा। सभी नागरिक आवेश से भरे पड़े थे। प्रत्येक नागरिक सैनिक वेष धारण किये हुए था और प्रत्येक सैनिक की तलवार शत्रुओं का रुधिर पान करने को लालायित हो रही थी। केवल राजमाता की आज्ञा की प्रतीक्षा थी। इसी समय राजमाता मुस्कराती हुई बाहर आई। उन्हें देखकर प्रत्येक सैनिक के मन में जोश का समुद्र ठाठें मारने लगा। राजपूतों के इस उत्साह को देखकर राजमाता ने कहा—'जाओ वीरो ! चित्तौड़ देवी तुम्हारा भला करें। मैं यहाँ एक स्त्री-सेना लेकर दुर्ग की रक्षा के लिए खड़ी रहूँगी और तुम अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करो।'

आज्ञा पाते ही संपूर्ण चित्तौड़ 'हर हर महादेव' के नारों से प्रतिध्वनित हो उठा और सभी सैनिक रणभूमि की ओर चल पड़े।

यद्यपि चित्तौड़ के नागरिक वीर थे, परन्तु संख्या में कम होने के कारण वे बाबर की असंख्य सेना के सन्मुख ठहर न सके।

किया और फिर राजमाता की आज्ञानुसार वे दुर्ग के चारों ओर फैल गईं।

अगले दिन सूर्योदय होते ही महारानी ने देखा कि बाबर के सैनिक अपनी तोपों के मुँह क़िले की ओर फिराकर उसे विध्वंस करने का यत्न कर रहे हैं। वे तत्काल शिखर से उतर आ, शीघ्रगामी घोड़ों पर चढ़कर शत्रु-सेना की ओर भागीं आकर एक घने झुरमुट में छिप रहीं। जिस समय शत्रु अपना मो सजाकर लौट रहे थे, ठीक उसी समय एक बड़ा भीषण संकेत हुआ। उसी के साथ तीरों की धुआँधार वर्षा होनी प्रारंभ हुई। कटे हुए वृक्षों की भाँति पृथ्वी पर गिरने लगे। एक भी गो जीवित न बचा! बात की बात में तोपों पर राजमाता का अधि हो गया। कुछ ही क्षणों में तोपें क़िले पर चढ़ा ली गईं।

जब बाबर सेना-सहित क़िले पर चढ़ने के लिए पहुँचा तो उस पर दनादन गोलों की वर्षा होने लगी। सामने से तोप के गोलों की और पीछे से तीरों की वर्षा होने के कारण शत्रु-सेना बीच में ही घिर गई।

चित्तौड़ के दुर्ग को विध्वंस करने के लिए बाबर के सैनिकों ने कुछ तोपें गुप्त रूप से पहले ही शिखरों पर जमा दी थीं। बाबर ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि वे इन मोरचों पर जाकर दुर्ग को तोपों से उड़ा दें। गोलन्दाज़ चढ़े ही थे कि रक्तवर्ण पोशाक पहने प्राय दो हज़ार राजपूतनियाँ 'जय काली!' कहती हुई पहाड़ों की गुफ़ाओं से निकल पड़ीं। उनके आगे-आगे राजमाता जवाहरबाई

शब्दार्थ

पृष्ठ

११ ढोर-पशु, गाय, भैस आदि
तन्मयता-तल्लीनता
बहुधा-अकसर, ज्यादेतर

१२ अलौकिक-अद्भुत, दिव्य
आकाश-वाणी-आकाश मे शब्द, देवगिरा
आभास-झलक, संकेत
कल्पना-मनगढंत बात, अवास्तविक खयाल

१३ आघात-चोट, धक्का
राज्याभिषेक-राजतिलक

१४ साक्षात्कार-दर्शन

१५ तत्त्वविवेचन-यथार्थ की जाँच
मधुरतर-अति मीठी
हतवीर्य-बलहीन
समारोह-सजधज, बृहदायोजन
पौरजन-नगर-निवासी

१६ देवदूत-देवता का दूत, फ़रिश्ता

१७ परिणामतः-परिणाम से, आखिरकार
खेत रहे थे-मारे गये थे

१८ काल्पनिक-मनगढन्त, मिथ्या

४५ सारगर्भित–ठोस, सारपूर्ण

४६ वीरगति को प्राप्त हुए–युद्ध में मरे

४८ विनीतरूप–बिना धूम धाम के

५० विलासिता–भोग विलास

५१ आपत्ति–आक्षेप, ऐतराज

५४ विद्रोह–ग़दर
धारणा–निश्चय

५५ व्यथित–दुखी

५८ धारा–लहर
परिस्थितियों–अवस्थाओं

५९ आस्तिकता–ईश्वर पर विश्वास

६१ पुरस्कार–इनाम
श्रमिकों–मजदूरों

६२ विकसित–परिमार्जित, शुद्ध

६४ धन-राशि–धनसमूह
उदाहरण–दृष्टान्त

६५ समर–युद्ध

६६ समारोह–धूमधाम, भीड़

६९ सभानेत्री–प्रधाना

७० रूप–सौन्दर्य
सार्वजनीन–सब मनुष्यों का

७१ निर्भीकता–निडरपन

७३ वीरांगना–बहादुर स्त्री
विज्ञान–साइंस
आविष्कार–ईजाद
अनुसंधान–खोज
टर्रे–ढंग

७४ आयोजना–तैयारी

७५ मरुस्थल–रेतीली भूमि
गुप्तचर–खुफिया पुलिस भेदिया

७६ प्रतिभा–प्रखर बुद्धि

७८ कला-कलाप–कलाओं समूह
नैसर्गिक–स्वाभाविक

७९ विश्लेषण–पृथक् पृथक् करना

८० सिद्धान्त-निरूपण–सिद्धान्त का निर्णय

८२ दंपती–पतिपत्नी का जोड़ा
पराकाष्ठा–अन्तिम सीमा

९७ उर्वरा–उपजाऊ
अवशेष–नष्ट होने से बचे हुए प्राचीन चिह्न
९८ पद्-वन्दना–चरणवन्दना
९९ प्रतिबिम्ब–परछाहीं
१०३ रजोविकीर्ण–धूल से मलिन, धूलिधूसरित
१०७ परमधाम–स्वर्ग, मोक्ष
११० विकलता–घबराहट
अनवरत–लगातार
विरह-मग्न–वियोग में डूबी हुई
११६ सारथि–रथ चलाने वाला
तपोभ्रष्ट–तप से च्युत
११७ निर्वाण–मोक्ष
परिपाटी–रीति
११८ काषायवस्त्रधारी–गेरुए कपड़े पहने हुए
१२१ प्रादुर्भाव–उत्पत्ति
भावुक–जिस पर भावों का जल्दी प्रभाव पड़े
१२४ परिणामतः–फलस्वरूप
१२५ भक्ति-नाटक-भक्ति का नाटक, प्रदर्शन, स्वांग
१२६ बरजी–मना की गई
सीस–सिर
सुमिरण–स्मरण, चिन्तन
बोल–निन्दावचन
सरण–शरण, आसरा
चरणोदक–चरणजल, पादोदक
१२७ सुखनिधान–सुख की खान
मिताई–मित्रता
१२८ आश्वासन–धैर्य
वैदेही–सीता
उपासना–पूजा
१२९ जर्जरित–छलनी
विश्वमोहिनी–संसार को मोहने वाली
मन्दाकिनी–गंगा
१३० परस–स्पर्श कर
१३२ कटक–सेना
राशियाँ–ढेर
१३४ प्रौढयौवना–भर जवानी
१३५ निर्भीक–निर्भय
अनित्यभावना–संसार